लिखि कागद कोरे

[निजी निबन्ध]

'अज्ञेय'

रघुवीर सहाय
और
'दिनमान' के
अपने अन्य सहयोगियों को

साँचि कहउँ ?

कोरे कागद का इस से अच्छा उपयोग न जानता होऊँ, सो बात नहीं। बल्कि यह भी मानना चाहता हूँ कि प्रायशः तो इस से अच्छे ही काम में उसे लगाता हूँ। और सुलझा हुआ पाठक (अगर सुलझ जाने के बाद भी ऐसी पुस्तक पढ़ेगा !) तो यह भी पहचानेगा कि ये लेख वास्तव में वैसा सत्य नहीं हैं जिस के लिए पारम्परिक 'कोरे कागद' का व्यवहार सम्मत रहा। सत्य भी खंड-सत्य (या कभी-कभी मिश्र सत्य) है, और कागद भी ओप-चढ़ा है इस लिए सीमित अर्थ में ही कोरेपन का दावेदार हो सकता है।

असल में यह पुस्तक पहले एक और पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में आयोजित हुई थी। पर जब पूँछ अधिक लम्बी हो गयी तो सुझाया गया कि काट कर अलग कर देने पर यह स्वतन्त्र रूप से जी सकेगी। मुझे पूरा प्रत्यय तो नहीं हुआ, पर जैसे लिखने के मामले में अपना निर्णय अन्तिम मानता हूँ वैसे ही छापने के मामले में प्रकाशक या प्रकाशकीय सम्पादक की राय को अधिक गरिमा देता हूँ। छिपकली की पूँछ कट जाने पर वह नयी पूँछ उगा लेती है यह जानता हूँ; पूँछ भी कट जाने के बाद थोड़ी देर नाचती रहती है यह भी देखा है। पर पूँछ ने भी उसी तरह आगे छिपकली उगा ली हो जैसे छिपकली ने पूँछ, यह तो कभी नहीं देखा-सुना। अंग्रेज़ी मुहावरे में कभी दुम भी

कुत्ते को हिलाती है, पर वह तो मुहावरेबाज़ी है न—कोरे कागद पर क्या वैसी बात लिखी जाती है !

फिर भी, छपी पुस्तक को देख कर जब ऐसा नहीं लगा कि इस का परिशिष्ट-पन अब भी सिर पर चढ कर बोल रहा है, तब मैं ने भी मान लिया कि ठीक है,समय-समय पर लिखे गये ये आत्मपरक निबन्ध, या बोले गये प्रश्नोत्तर इस संगृहीत रूप में भी पाठक को रुच सकते हैं; सुलझे हुए पाठक को थोड़ी देर उलझाये रख सकते हैं और उलझे हुए पाठक को अपने को सुलझाने में कुछ मदद दे सकते हैं। ऐसा मान लेना मेरी भूल न हो, और मेरी आशा निराधार न सिद्ध हो, तो मैं मानूंगा कि मैं सफल भी हुआ और पाठक की ओर से ऋण-मुक्त भी। फिर यह भी है कि जब एक सिद्ध पुरुष ने कोरे कागद पर सत्य लिखने की बात कही थी, तब दूसरे ने लिखे सत्य का अवमूल्यन भी कर दिया था। कागद की लेखी तो यों ही सब झूठ हो जाने वाली है। यह पुस्तक मेरी कागद-लेखी हो कर भी जहाँ-तहाँ पाठक की आँखिन-देखी हो जाय, तो मुझे और क्या चाहिए !

असल में मुझे शीर्षक देना चाहिए था 'अध साँचि कहउँ मैं टाँकि-टाँकि कागद अध-कोरे'—पर साठोत्तरी उपन्यास के पाठोत्तरी पाठक भी महसूसते (उन्हीं की भाषा हैं) कि इतने लम्बे शीर्षक नहीं चलने के—केवल पूँछ के शीर्षक हो कर भी नहीं।

—लेखक

क्रम

सपने मैं ने भी देखे हैं

मेरी एक कविता है, 'सपने मैंने भी देखे हैं'। उस में कुछ उन स्वप्नों का चित्र खींचने की भी कोशिश की गयी है। पर अभी निरे रंगीन सपनों की बात क्या करनी ? पाठक के सपने ज़रूर मेरे सपनों से ज्यादा रंगीन होंगे—मेरे सपनों के रंग धुँधले भी तो पड़ गये हैं !

कहते हैं कि अच्छी नींद वह होती है जिसमें सपने नहीं आते। मैं तो अच्छी ही नींद सोता हूँ। कभी सपने आते भी हैं तो याद नहीं रहते, सबेरे कुछ ध्यान रहता है कि अच्छा-सा सपना देखा था, पर क्या, यह याद नहीं आता। बस अच्छाई की जो छाप रहती है, उसी को लिये दिन-भर काट देता हूँ।

बचपन के सपने भी कुछ ऐसे ही होते हैं : जब जागें तो सपने की मिठास बनी रहे, और कुछ याद रहे या न रहे—यही तो चाहिए ! अपनी कहूँ तो आप को एक रहस्य की बात बता दूँ—मुझ में वह मिठास तो बनी ही हुई है; उसी के कारण मैं ने यह सोच लिया है कि असल में मेरा सब से बढ़िया सपना वह है जो मैं अब देखूंगा। आज देखूंगा कि कल देखूंगा कि परसों, यह तो कोई सवाल नहीं है; देखूंगा, बस, यह

---

* 'बचपन के सपने' : इस शीर्षक से बच्चों के कार्यक्रम में रेडियो से प्रसारित एक वार्त्ता का किंचित् परिवर्तित (पठ्य) रूप।

विश्वास चाहिए और इसी के सहारे मैं जीवन में बराबर नयी स्फूर्ति और उमंग ले कर आगे बढ़ा चलता हूँ। यह भी सवाल नहीं है कि वह सपना सो कर देखूँगा कि जागते-जागते देखूँगा। क्योंकि असल में सच्ची शक्ति उन्हीं सपनों में होती है जो जागते-जागते देखे जाते हैं। नींद में देखे हुए सपने तो छाया-से आ कर चले जाते हैं; जो सपने हम जागते-जागते देखते हैं वे हमारे जीवन पर छा जाते हैं, उसे आगे चलाते हैं, उसे दिशा और गति देते हैं। आप ने सुना है, कोई-कोई बच्चे नींद में उठ कर चलने लगते हैं, और नींद में ऐसे-ऐसे काम कर लेते हैं जो जागते हुए उन से कभी न बन पड़ते ?—जैसे नसैनी चढ़ जाना, या किसी ख़तरनाक मुँडेर पर से हो गुजरना—यह सब कैसे होता है ? सपने की ताक़त से। उसी तरह जो सपने हम जागते-जागते देखते हैं, वे हमें ऐसे काम करने की शक्ति दे देते हैं जो हम से बिना उस शक्ति के कभी न हो सकते। ये जागते स्वप्न असल में आदर्श होते है जिन पर हम चलते हैं : ऐसे स्वप्न एक आदमी भी देखता है, समाज भी देखता है, समूचे देश और राष्ट्र भी देखते हैं। स्वाधीनता का स्वप्न जब सारे भारतवर्ष पर छा गया था, तभी तो उस में इतनी शक्ति आयी थी कि बिना रक्तपात के वह स्वाधीन हो जाय और एक विशाल लोकतन्त्र स्थापित कर ले—संसार का सब से बड़ा लोकतन्त्र !

बरसों हुए, हमारे पड़ोस में एक बच्चा रहता था। बच्चों से अकसर लोग पूछा करते हैं, 'तुम बड़े होकर क्या बनोगे ?' वैसे ही इस से भी पूछते थे। और वह हमेशा एक ही जवाब देता था जिस पर सब हँसते थे : "मैं वड्डा बणना ए"—मैं बड़ा बनूँगा। पर सोच कर देखें तो हँसने की बात इस में कुछ नहीं है। बात यह है कि यही उस का सपना था। और सपना इस लिए था कि उसे बात-बात पर टोका जाता था कि 'बड़े हो कर यह करना', 'बड़े हो कर वह लेना', 'बड़े हो कर यह समझोगे', वग़ैरह। उसने समझ लिया कि बड़े हो जाना ही सब सम-

स्याओं का हल है—बड़े होते ही सब अड़चनें दूर हो जायेंगी, सब ताक़त मिल जायेगी, सब चीज़ें सुलभ हो जायेंगी ! जो बनने में कुछ भी बनना सम्भव हो जाये, वही तो बनना चाहिए ! बच्चे से कभी पूछें कि तुम यह लोगे कि वह, तो वह सीधा जवाब थोड़े ही देता है ? कहता है, "दोनों—सब !"

एक और हमारे पड़ोसी भाई को रट लगी रहती थी कि कोई उन्हें झाड़ू बना दे, वह मेहतर बनेंगे। और ज़िद पर मचलते थे तो घंटों धूल में बैठे यही दुहराते रहते थे। यह इस लिए कि पहले मेहतर के आने पर उन्हें कमरे में बन्द कर दिया जाता था कि धूल से बचे रहें। और हज़रत कमरे में बैठे झाड़ू का शब्द सुना करते थे और कल्पना किया करते थे कि मेहतर होना ही मुक्त होना है !

और अब अपनी सुनाऊँ ? हँसियेगा मत ! मेरा सपना यह था कि मैं एक पोटली कन्धे की लाठी में लटकाये चला जा रहा हूँ—कहाँ ? कहाँ का क्या सवाल, बस चला जा रहा हूँ और अनन्त काल तक चलता जाऊँगा ! मुझे घुमक्कड़ी पसन्द थी, शहर हो कि जंगल, नदी-नाले कि पहाड़, समुद्र कि रेगिस्तान कि तीर्थ-स्थल कि पुराने खँडहर। कभी पैदल, कभी घोड़े पर, कभी ताँगे-बैलगाड़ी में, कभी ऊँटगाड़ी या शिकरम पर—मोटर का कभी ध्यान नहीं होता था, मोटर में तब तक बैठा भी नहीं था। बस वह लाठी साथ और पोटली साथ; पोटली में एक कम्बल हो जिसे लाठी पर टाँग कर रात के लिए तम्बू बना लिया जाये, एक जोड़ी कपड़ा बदलने के लिए; एक कापी और पेंसिल लिखने और तस्वीरें बनाने के लिए; एक गिलास, एक चाकू, एक छोटी कुल्हाड़ी, थोड़ी-सी रस्सी, और, हाँ, दो-एक सेब या नारंगियाँ। और अब बताने ही पर आया हूँ तो हँसने की बात भी बता ही दूँ : इस सपने को यथार्थ रूप देने के लिए मैं ने एक लाठी और पोटली तैयार कर के

छिपा कर रख भी छोड़ी थी ! लाठी तो मैं ने ख़ुद काट-छाँट कर बनायी थी; चाकू और छोटी कुल्हाड़ी जन्म-दिनों पर उपहार मिली थीं (उपहार भी क्या मिली थीं, निहोरे कर के भेंट करा ली थीं !)—सवाल कम्बल का था : घर से माँगने पर तो पोल खुल जाती ! उस का उपाय संयोगवश निकल आया । एक छोटा लड़का हमारे यहाँ नौकर रहा; पिता जी ने उसे एक पुराना कम्बल दिया कि वह कोट बना ले । उस के कोट के लिए आधा ही कम्बल काफ़ी था, इस लिए बाक़ी आधा मैं ने ले लिया—पिता जी तो भला पूछते क्या कि सारा कम्बल लगा कि नहीं, और लड़के को कहने की नहीं सूझी क्यों कि रात को ओढ़ने के लिए तो उस के पास रज़ाई थी ही !

यह पोटली मेरे पास सात-आठ बरस रही । मैट्रिक पास कर के जब घर से अलग हो कर कालेज गया, तब वह छूट गयी; दो साल बाद लौट कर फिर मैं ने उसे खोल-खाल कर इधर-उधर कर दिया ।

पोटली तो गयी, पर यह न समझिये कि सपना भी गया । सपना अब भी मेरे साथ है । यों समझ लीजिए कि मन ही मन हमेशा लाठी-पोटली या डोरी-डंडा लिये तैयार रहता हूँ—क्या जाने कब सपना एकाएक सामने आ कर कहे : "चलो तो चलो !" और मैं सब छोड़-छाड़ कर चल निकलूँ—किधर, नहीं मालूम; कब तक, यह भी नहीं मालूम, लेकिन चलूँ तो सही, यह सारी इतनी बड़ी दुनिया देखता हुआ !

एक और भी सपना था—किताब लिखने और छापने का । छपाई कैसे होती है यह तो जानता नहीं था, हाथ से सुन्दर अक्षर लिखा करता था, और तस्वीरें तो पिता जी की किताबों में से काट लिया करता था, या उन से फ़ोटो माँग लिया करता था—उन के पास देश-देशान्तर के बहुत फ़ोटो रहते थे । और जिल्दें भी बढ़िया-सी किसी किताब पर से उखाड़ कर लगा लिया करता था—पीछे तो सीख लिया कि जिल्दें बनती कैसे हैं । एक-आध दफ़े तो पिटाई भी हुई किताबें फाड़ने पर; लेकिन पिता जी मेरी किताबें देख कर ख़ूब हँसते थे और उन का गुस्सा

प्राय: उस हँसी में खो जाता था। मुझे इस हँसी का बहुत बुरा लगता था—क्यों कि मैं तो उन की लिखी हुई किताब देख कर कभी नहीं हँसता था! फिर मैं ने हाथ से लिख कर एक पत्र निकाला : उस का नाम था **आनन्द-बन्धु**। इसे कोई चार साल तक चलाया।

और देखिए—यह सपना भी मेरे साथ ऐसा चिपटा कि अब काम के नाम पर कुछ सोचता हूँ तो किताब लिखने की, या पत्रिका निकालने की। और यही सपना देखते-देखते लेखक और सम्पादक बन गया हूँ। (और कभी इस काम से छुट्टी पाता हूँ तो घुमक्कड़ी के लिए या घुमक्कड़ी के सहारे—यानी एक सपने से उबरता हूँ तो दूसरे में जा उलझता हूँ!) मैं ने कहा न, सपनों में बड़ी ताक़त होती है? और लिखने में भी सोचता हूँ कि जो लिखा वह जब लिखा तब तो अच्छा ही समझ कर लिखा, पर सब से अच्छी किताब तो वह होगी जो अब लिखूँगा! ठीक वैसे ही, जैसे मेरा सब से अच्छा सपना वह है जो मैं अभी देखने वाला हूँ—और बचपन से ही बस अभी-अभी देखने की उमंग में चला आया हूँ!

'ऋण-स्वीकारी हूँ'

यों तो किसी भी युग में कवि का बहुश्रुत होना आवश्यक माना जाता रहा है, पर आधुनिक काल में कोई विरला ही भाग्यवान् होगा जिस ने जो कुछ पाया है केवल एक ही भाषा के माध्यम से पाया हो, फिर वह भाषा चाहे देव-भाषा ही क्यों न हो। मैं ऐसे भाग्यवानों में नहीं हूँ। बल्कि ऐसा अबोध भी हूँ कि नाना भारतीय और अभारतीय भाषाओं से जो कुछ प्रेरणा मैं ने पायी है उसे सहर्ष स्वीकार भी करता हूँ। मेरा साहित्य का अध्ययन बहुत नियमित नहीं रहा, किसी पद्धति के अनुसार नही चला, कुल मिला कर इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ, यद्यपि इस से कुछ कवियों से मेरा उतना, या वैसा, या उतना पुराना परिचय नहीं हो पाया जितना होना चाहिए। हर कवि की रचना में 'मौलिक' और 'परम्परा-प्राप्त' का मिश्रण—या कह लीजिए समन्वय—रहता ही है; पर परम्परा से मैं ने जो ग्रहण किया वह क्यों कि समकालीन अनेक कवियों से कुछ भिन्न रहा, इस लिए उस का प्रभाव भी कुछ भिन्न पड़ा। फलत: दूसरों का अवदान भी एक मौलिकता के रूप में प्रकट हुआ—यह दूसरी बात है कि कुछ लोगों को वह रुची तो कुछ ने भर पेट गालियाँ भी दीं।

संस्कृतज्ञ पिता के प्रभाव से मेरी शिक्षा पहले संस्कृत से आरम्भ

हुई : वह भी पुराने ढंग से—यानी **अष्टाध्यायी** रट कर। पक्का नहीं कह सकता, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह रटन्त अक्षर-ज्ञान से भी पहले शुरू हो गयी थी। जो हो, सब से पहले और पुराने काव्य-प्रभावों का स्मरण करने लगूँ तो संस्कृत श्लोकों की ध्वनियाँ ही मन में गूँज जाती हैं : **शिव महिम्नस्तोत्र** का मन्द्र गम्भीर शिखरिणी छन्द, पिता के भारी और ओजस्वी कंठ-स्वर में गाये हुए **शार्दूलविक्रीडित** छन्द, जिनमें कुछ उन्होंने मुझे भी कंठस्थ कराये थे और जो अभी तक अविस्मृत हैं, जैसे सरस्वती की वन्दना का श्लोक

या कुन्देन्दु-तुषार-हार-धवला, या श्वेत वस्त्रावृता

तुलसी की शिव-वन्दना का

वामांके च विभाति भूधर-सुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसिव्यालराट्

और राम-वन्दना का

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण-शान्तिप्रदम्।
ब्रह्मा - शम्भु - फणीन्द्र सेव्यमनिशं वेदान्त वेद्यं विभुम्

तब नहीं जानता था कि यह श्लोक कहाँ का या किस का है; **रामायण** को मैं उस के एकश्लोकी रूप में जानता था। **वाल्मीकि रामायण** का बालकांड और अयोध्याकांड पिता से बाद में पढ़ा था, पर **तुलसी रामायण** तो बहुत पीछे तब पढ़ी जब अपनी शिक्षा की त्रुटियाँ पूरी करने का व्यवस्थित प्रयत्न करने लगा।

असल में पिता जी का विश्वास था—उस काल में बहुत-से लोग ऐसा मानते थे—कि पढ़ना हो तो संस्कृत-फ़ारसी पढ़े; हिन्दी का क्या है, वह तो अपने-आप आ ज़ायेगी। आज मैं यह तो न मानूँगा कि हिन्दी विधिवत् पढ़े बिना आ जाती है; पर यह मानता हूँ कि उसे ठीक जानने के लिए संस्कृत और फ़ारसी दोनों जानना और उर्दू से परिचित होना आवश्यक है।

मैं **वाल्मीकि** के बाद **कालिदास** और **राजा भोज** की गाथाओं के

द्वारा कालिदास के और कुछ अन्य संस्कृत कवियो के नामों से थोड़ा-बहुत परिचित होने ही लगा था कि **सादी और हाफ़िज़** के नामों से भी परिचित हो गया, और फ़ारसी के शेर तो नहीं पर कहावतें मुझे याद हो गयीं।

और इस के बाद ही अंग्रेज़ी की बारी आयी। यद्यपि इसके बाद तो लगातार ही तीन-चार भाषाओं के प्रभाव साथ-साथ चलते रहे—और अभी तक मैं जितना हिन्दी काव्य पढ़ता हूँ कम से कम उतना ही हिन्दीतर भाषाओं का भी—पर उस समय तो एकदम ही अंग्रेज़ी साहित्य में डूब गया। **लांगफ़ेलो और टेनिसन** से शुरू किया—उस वय में प्राय: इन्हीं से तो आरम्भ होता है!—पर प्रभाव टेनिसन का ही अधिक और स्थायी हुआ। मेरा पढ़ना एक-साथ ही व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोनों होता था—यानी किसके बाद कौन कवि पढ़ूँ यह तो नही सोचता था, पर जिस कवि को पढ़ता था उस की सम्पूर्ण कृतियाँ ले कर एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़ जाता था! टेनिसन ऐसे कई बार पढ़ा: उस के प्रवाह में अंग्रेजी में लिखना भी शुरू किया। अभी मेरे पास कुछ कापियाँ पड़ी हैं जिन्हें देख कर अब हँस सकता हूँ: टेनिसन के अतुकान्त छन्दों की, शैली की, और एक सीमा तक उस के मानसिक झुकाव की ऐसी नक़ल अब यत्न कर के भी नहीं कर सकता! लेकिन धीरे-धीरे परख बढ़ी, तब टेनिसन का बहुत-सा अंश छोड़ा और उसके प्रगीत ही मन में बसे रह गये—इनका सौन्दर्य आज भी स्मरण होते ही अभिभूत कर लेता है।

> **ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक**
> **ऑन दाइ कोल्ड ग्रेस्टोन्स, ओ, सी,**

अथवा

> **आस्क मी नो मोर**

की कोटि के प्रगीत कम ही मिलते हैं।

अंग्रेज़ी में तो इस के बाद ही **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** से परिचय हुआ

(मूल बाँग्ला में ठाकुर पढ़ना बहुत पीछे की बात है) : **ब्राउनिंग** के ओज-भरे आशावाद और ठाकुर के आशा-भरे रहस्यवाद के सम्मिश्रण ने मेरे नये विकसते मन पर क्या प्रभाव डाला, यह सोचा जा सकता है। पर अंग्रेज़ी की परम्परा यहाँ सहसा टूटी : हिन्दी में पढ़ा

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किस से हो कर आऊँ मैं ?

और फिर

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।
... ...

करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की !

और सहसा एक नयी आत्मीयता मिली—वह काव्यत्व में उतनी नहीं जितनी अपनी भाषा में—मानों सहसा अपना प्रतिबिम्ब दीख गया, और साथ ही यह भी दिख गया कि प्रतिबिम्ब दीखने के लिए आकाश नहीं चाहिए, पानी की बूँद में भी वह दीख जाता है···उस के बाद तो **मैथिलीशरण गुप्त** की जो रचना मिली पढ़ ही न ली बल्कि कापी में उतार ली—आरम्भिक काल की **सरस्वती** से कितनी कविताएँ ऐसे नक़ल की होंगी ! उस के बाद ही हिन्दी में कुछ तुकबन्दी करना शुरू किया : अंग्रेज़ी में जहाँ कल्पना या भावना को ले कर चलता था, हिंदी में वर्णनात्मक ही पहले लिखा। वह मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं है, और मेरी ओर से वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक कुछ कभी सामने नहीं आया है*—एक खंडकाव्य लिखने की बरसों की साध अभी मन में ही है, फिर भी इस कारण से मैं गुप्त जी को अपना काव्य-गुरु

---

*जब लिखी थी तब यह बात सच थी; अब अपने को निरपराध नही मान सकता। यों अंग्रेज़ी में भी थोड़ा इतिवृत्तात्मक लिखा ज़रूर था—उस के बिना टेनिसन का अनुकरण पूरा कैसे होता ?—हाँ, प्रकाश में आने से वह बच गया ; या कि कहना चाहिए मैं बच गया !

मानता रहा—यह जानते हुए भी कि इस जानकारी से वही सब से अधिक चौंकते !

मैथिलीशरण गुप्त के **जयद्रथ-वध** और **भारत-भारती** का नाम तो इतना अधिक लिया गया है कि उस का उल्लेख करते भी झिझक होती है। **केशों की कथा** भी लगभग उतना ही प्रसिद्ध है। इन के उद्धरण नितान्त अनावश्यक होंगे। पर इसी काल में और जिन कवियों ने मुझे प्रभावित किया उनका उल्लेख अवश्य करूँगा।

तुलसीदास कभी मुझे वैसे प्रिय नहीं हो सके जैसे कुछ अन्य भक्त कवि। तुलसी में मुझे न तो हृदय को विभोर करने वाला वह गुण मिला जो **सूरदास** के पदों में मिलता है, और न बुद्धि को आप्यायित कर देने वाले वे तत्त्व जो कबीर के पदों में मिलते हैं। और न वह अट-पटी तन्मयता जो मीराबाई के भजनों में है।

तुलसी के भक्त इसे मेरा दुर्भाग्य कह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि मैं **अष्टाध्यायी** से आरम्भ कर के यूरोपीय काव्य के रास्ते मैथिलीशरण गुप्त तक न आया होता, सीधे ढंग से **वृन्द** और **रहीम** और **लतुसी-रामायण** से आरम्भ कर के चला होता, तो मेरी मनो-रचना भी भिन्न होती। जो हो, मैं तो उन से ईर्षा कर के रह जाता हूँ जो तुलसी पढ़ते-पढ़ते विभोर हो जाते हैं। मुझे कुछ स्थल अच्छे लगते हैं, पर तुलसी से वैसी आत्मीयता नहीं होती; और जो अच्छे लगते हैं उन की भी तुलना जब **वाल्मीकि** के उन्हीं प्रसंगों से करता हूँ तो मन आदिकवि की प्रतिभा से ही अभिभूत होता है। और संस्कृत में फिर **कालिदास** की ओर मुड़ता हूँ, जिन का **रघुवंश** मेरा प्रिय ग्रन्थ रहा है। कालिदास ने बड़े साहस से **रामायण** की कथावस्तु को ले कर काव्य रचने की ठानी होगी, लेकिन **रघुवंश** में वह वाल्मीकि से प्रति-स्पर्द्धा करने से बच गये हैं; तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता क्यों कि रामचरित को उन्होंने केवल एक अंश दिया है। रघुवंश के **अज-विलाप** अथवा **कुमारसम्भव** के **पार्वती-तपस्या** जैसे प्रसंगों का समकक्ष कुछ मैं

ने और किस कवि या भाषा में पाया है ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता : वैसा कुछ मैं ने अन्यत्र नही पढ़ा है···

समकालीन हिन्दी काव्य का भी गहरा प्रभाव मुझ पर पड़ा। **महादेवी वर्मा** की कविताएँ और **प्रसाद** का **आँसू** पढ़ा तो उस में भी वह आविष्कार का-सा भाव था जो मैथिलीशरण गुप्त के **स्वयमागत** से मिला था, पर वह मानों स्थायी न रहा। प्रसाद के **आँसू** के कई अंश मुझे याद हैं, अब भी कभी अपने को उन्हें गुनगुनाते पाता हूँ :

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार-स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
... ...
आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,
टकराती बिलखाती-सी पगली-सी देती फेरी ?
... ...
किंजल्क-जाल हैं बिखरे उड़ता पराग है रूखा,
क्यों स्नेह-सरोज हमारा विकसा मानस में सूखा !

लेकिन अनन्तर **पन्त** और **निराला** ही घनिष्ठ हो गये, और निराला को तो जब-जब पढ़ता हूँ मानों नया आविष्कार करता हूँ। शब्द पर उन का अद्वितीय अधिकार है :

वर्ण चमत्कार
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।

•

निराला से और अनेक उद्धरण देने का मोह होता है : **बादल राग** का

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर।

राम की शक्तिपूजा का

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
... ...

विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गतयुग्म प्रहर···

गीतों की पंक्तियाँ—

सुमन भर न लिये, सखि ! वसन्त गया ।

अथवा

स्नेह निर्झर बह गया है, मैं नहीं, कवि कह गया है

अथवा—पर यह द्वार खोल देने पर बाढ़ रोकना कठिन हो जायेगा, संकेत करके रुक जाने में ही खैर है ! *

---

*रेडियो से प्रसारार्थ प्रस्तुत

अज्ञेय : अपनी निगाह में

कृतिकार की निगाह नहीं होती, यह तो नहीं कहूँगा। पर यह असन्दिग्ध है कि वह निगाह एक नहीं होती। एक निगाह से देखना कलाकार की निगाह से देखना नहीं है। स्थिर, परिवर्तनहीन दृष्टि सिद्धान्तवादी की हो सकती है, सुधारक-प्रचारक की हो सकती है और —भारतीय विश्वविद्यालयों के सन्दर्भ में—अध्यापक की भी हो सकती है, पर वैसी दृष्टि रचनाशील प्रतिभा की दृष्टि नहीं है।

अज्ञेय : अपनी निगाह में इस शीर्षक के नीचे यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसे इस लिए ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह स्थिर उत्तर नहीं है। यह भी हो सकता है कि उस के छपते-छपते उस से भिन्न कुछ कहना उचित और सही जान पड़ने लगे। चालू मुहावरे में कहा जाय कि यह केवल आज का, इस समय का कोटेशन है। कल को अगर बदला जाय तो यह न समझना होगा कि अपनी बात का खण्डन किया जा रहा है, केवल यही समझना होगा कि वह कल का कोटेशन है जो कि आज से भिन्न है।

फिर यह भी है कि कलाकार की निगाह अपने पर टिकती भी नहीं। क्यों टिके ? दुनिया में इतना कुछ देखने को पड़ा है : **'क्षण-क्षण परिवर्त्तित प्रकृतिवेश'** जिसे **'उसने आँख भर देखा।'** इसे देखने

से उस को इतना अवकाश कहाँ कि वह निगाह अपनी ओर मोड़े। वह तो जितना कुछ देखता है उस से भी आगे बढ़ने की विवशता में देता है **'मन को दिलासा, पुनः आऊँगा—भले ही बरस दिन अनगिन युगों के बाद !'**

कलाकार की निगाह, अगर वह निगाह है और कलाकार की है तो, सर्वदा सब-कुछ की ओर लगी रहती है। अपने पर टिकने का अवकाश उसे नही रहता। नि.सन्देह ऐसे बहुत-से कलाकार पड़े हैं, जिन्होंने अपने को देखा है, अपने बारे में लिखा है। अपने बारे में लिखना तो आजकल का एक रोग है। बल्कि यह रोग इतना व्यापक है कि जिसे यह नहीं है वही मानों बेचैन हो उठता है कि मैं कहीं अस्वस्थ तो नहीं हूँ ? लेखकों में कई ऐसे भी हैं जिन्होंने केवल अपने बारे में लिखा है—जिन्होंने अपने सिवा कुछ देखा ही नही है। लेकिन सरसरी तौर पर अपने बारे में लिखा हुआ सब-कुछ एक ही मानदण्ड से नहीं नापा जा सकता, उस में कई कोटियाँ हैं। क्योंकि देखने वाली निगाह भी कई कोटियों की हैं। आत्म-चर्चा करने वाले कुछ लोग तो ऐसे हैं कि जिन की निगाह कलाकार की नहीं, व्यवसायी की निगाह है। यों आजकल सभी कलाकार न्यूनाधिक मात्रा में व्यवसायी हैं; आत्म-चर्चा आत्म-पोषण का साधन है इस लिए आत्म-रक्षा का एक रूप है। कुछ ऐसे भी होंगे जो कलाकार तो हैं लेकिन वास्तव में आत्म-मुग्ध हैं—**नार्सिसस**-गोत्रीय कलाकार ! लेकिन अपने बारे में लिखने वालों में एक वर्ग ऐसों का भी है जो कि वास्तव में अपने बारे में नहीं लिखते हैं—अपने को माध्यम बनाकर संसार के बारे में लिखते हैं। इस कोटि के कलाकार की जागरूकता का ही एक पक्ष यह है कि वह निरन्तर अपने देखने को ही देखता चलता है, अनवरत अपने संवेदन के खरेपन की कसौटी करता चलता है। जिस भाव-यन्त्र के सहारे वह दुनिया पर और दुनिया उस पर घटित होती रहती है उस यन्त्र की ग्रहणशीलता का वह बराबर परीक्षण करता रहता है। भाव यन्त्र का

ऐसा परीक्षरण एक सीमा तक किसी भी युग में आवश्यक रहा होगा, लेकिन आज के युग में वह एक अनिवार्य कर्तव्य हो गया है।

तो अपनी निगाह में अज्ञेय। यानी आज का अज्ञेय ही। लिखने के समय की निगाह में वह लिखता हुआ अज्ञेय। बस इतना ही और उतने समय का ही।

अज्ञेय बड़ा संकोची और समाजभीरु है। इस के दो पक्ष हैं। समाजभीरु तो इतना है कि कभी-कभी दुकान में कुछ चीजें खरीदने के लिए घुस कर भी उलटे-पाँव लौट आता है क्योंकि खरीदारी के लिए दुकानदार से बातें करनी पड़ेंगी। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है जिस के मूल में निजीपन की तीव्र भावना है, वह जिसे अंग्रेजी में **सेंस आफ़ प्राइवेसी** कहते हैं। किन चीज़ों को अपने तक, या अपनों तक ही सीमित रखना चाहिए, इस के बारे में अज्ञेय की बड़ी स्पष्ट और दृढ़ धारणाएँ हैं। और इन में से बहुत-सी लोगों की साधारण मान्यताओं से भिन्न हैं। यह भेद एक हद तक तो अंग्रेजी साहित्य के परिचय की राह से समझा जा सकता है : उस साहित्य में इसे चारित्रिक गुण माना गया है। मनोवेगों को अधिक मुखर न होने दिया जाये, निजी अनुभूतियों के निजीपन को अक्षुण्ण रखा जाये : **'प्राइवेट फ़ेसेज़ इन पब्लिक प्लेसेज़'**। लेकिन इस निरोध अथवा संयमन के अलावा भी कुछ बातें हैं। एक सीमा है जिस के आगे अज्ञेय अस्पृश्य रहना ही पसन्द करता है। जैसे कि एक सीमा से आगे वह दूसरों के जीवन में प्रवेश या हस्तक्षेप नहीं करता है। इस तरह का अधिकार वह बहुत थोड़े लोगों से चाहता है और बहुत थोड़े लोगों को देता है। जिन्हें देता है उन्हें अबाध रूप से देता है, जिन से चाहता है उन से उतने ही निर्बाध भाव से चाहता है। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, ऐसे लोगों की परिधि बहुत कड़ी है।

इससे गलतफहमी जरूर होती है। बहुत-से लोग बहुत नाराज भी

हो जाते हैं। कुछ को इस में मनहूसियत की झलक मिलती है, कुछ अहम्मन्यता पाते हैं, कुछ आभिजात्य का दर्प, कुछ और कुछ। कुछ की समझ में यह निरा आडम्बर है और भीतर के शून्य को छिपाना है जैसे प्याज का छिलका पर छिलका। मैं साक्षी हूँ कि अज्ञेय को इन सब प्रतिक्रियाओं से अत्यन्त क्लेश होता है। लेकिन एक तो वह क्लेश भी निजी है। दूसरे इस के लिए वह अपना स्वभाव बदलने का यत्न नहीं करता, न करना चाहता है। सभी को कुछ-कुछ और कुछ को सब-कुछ—वह मानता है कि उस के लिए आत्म-दान की परिपाटी यही हो सकती है। सिद्धान्ततः वह स्वीकार करेगा कि 'सभी को सब-कुछ' का आदर्श इस से अधिक ऊँचा है। पर वह आदर्श संन्यासी का ही हो सकता है। या कम-से-कम निजी जीवन में कलाकार का तो नहीं हो सकता। बहुत-से कलाकार उस से भी छोटा दायरा बना लेते हैं जितना कि अज्ञेय का है और कोई-कोई तो 'कुछ को कुछ, बाक़ी अपने को सब कुछ' के ही आदर्श पर चलते हैं। ऐसा कोई न बचे जिसे उस ने अपना कुछ नहीं दिया हो, इस के लिए अज्ञेय बराबर यत्नशील है। लेकिन सभी के लिए वह सब-कुछ दे रहा है, ऐसा दावा वह नहीं करता और इस दम्भ से अपने को बचाये रखना चाहता है।

अज्ञेय का जन्म खँडहरों में शिविर में हुआ था। उस का बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषों के मध्य में बीता। इन्हीं के बीच उस ने प्रारम्भिक शिक्षा पायी। वह भी पहले संस्कृत में, फिर फ़ारसी और फिर अंग्रेज़ी में। और इस अवधि में वह सर्वदा अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता के साथ, और बीच-बीच में बाक़ी परिवार से—माता और भाइयों से—अलग, रहता रहा। खुदाई में लगे हुए पुरातत्त्वान्वेषी पिता के साथ रहने का मतलब था अधिकतर अकेला ही रहना। और अज्ञेय बहुत बचपन से एकान्त का अभ्यासी है। और बहुत कम चीज़ों से उस को इतनी अकुलाहट होती है जितनी लगातार लम्बी अवधि तक इस में व्याघात पड़ने से। जेल में अपने

सहकर्मियों के दिन-रात के अनिवार्य साहचर्य से त्रस्त हो कर उसने स्वय काल-कोठरी की माँग की थी और महीनों उस में रहता रहा। एकान्तजीवी होने के कारण देश और काल के आयाम का उस का बोध कुछ अलग ढंग का है। उस के लिए सचमुच **'कालोह्ययं निरवधि-विपुला च पृथ्वी'**। वह घंटों निश्चल बैठा रहता है, इतना निश्चल कि चिड़ियाँ उस के कन्धो पर बैठ जायें या कि गिलहरियाँ उस की टाँगां पर से फाँदती हुई चली जायें। पशु-पक्षी और बच्चे उस से बड़ी जल्दी हिल जाते हैं। बड़ों को अज्ञेय के निकट आना भले ही कठिन जान पड़े, बच्चों का विश्वास और सौहार्द उसे तुरत मिलता है। पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेन्दुए के बच्चे तक पाले हैं, पक्षी बुलबुल से मोर-चकोर तक; बन्दी इन में से दो-चार दिन से अधिक किसी को नही रखा। उस की निश्चलता ही उन्हें आश्वस्त कर देती है। लेकिन गति का उस के लिए दुर्दान्त आकर्षण है। निरी अन्ध गति का नहीं, जैसे तेज मोटर या हवाई जहाज की, यद्यपि मोटर वह काफी तेज़ रफ्तार से चला लेता है। (पहले शौक़ था, अब केवल आवश्यकता पड़ने पर चला लेने की कुशलता है, शौक नहीं है।) आकर्षण है एक तरह की ऐसी लय-युक्त गति का—जैसे घुड़दौड़ के घोड़े की गति, हिरन की फलाँग, या अच्छे तैराक का अंग-संचालन, या शिकारी पक्षी के झपट्टे की या सागर की लहरों की गति। उसके लेखन में, विशेष रूप से कविता में, यह आकर्षण मुखर है। पर जीवन में भी उतना ही प्रभावशाली है। एक बार बचपन में अपने भाइयों को तैरते हुए देख कर वह उनके अंग-संचालन से इतना मुग्ध हो उठा कि तैरना न जानते हुए भी पानी में कूद पड़ा और डूबते-डूबते बचा—यानी मूर्च्छिता-वस्था में निकाला गया। लय-युक्त गति के साथ-साथ, उगने या बढ़ने वाली हर चीज में, उस के विकास की बारीक-से-बारीक क्रिया में, अज्ञेय को बेहद दिलचस्पी है: वे चीजें छोटी हों या बड़ी, च्यूँटी और पक्षी हों या वृक्ष और हाथी; मानव-शिशु हो या नगर और क़स्बे का

समाज। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का विकास तो केवल देखा ही जा सकता है; शहरी मानव और उस के समाज की गतिविधियों से पहले कभी-कभी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया होती थी—क्षोभ और क्रोध होता था; अब धीरे-धीरे समझ में आने लगा है कि ऐसी राजस प्रतिक्रियाएँ देखने में थोड़ी बाधा जरूर होती हैं। अब आक्रोश को वश कर के उन गतिविधियों को ठीक-ठीक समझने और उन को निर्माण-शील लीकों पर डालने का उपाय खोजने का मन होता है। पहले विद्रोह था जो विषयिगत था—'सब्जेक्टिव' था। अब प्रवृत्ति है जो किसी हद तक असम्पृक्त बुद्धि से प्रेरित है। एक हद तक जरूर प्रवृत्ति के साथ एक प्रकार की अन्तर्मुखीनता आयी है। समाज को बदलने चलने से पहले अज्ञेय बार-बार अपने को जाँचता है कि कहाँ तक उस के विश्वास और उस के कर्म में सामंजस्य है—या कि कहाँ नहीं है। यह भी जोड़ दिया जा सकता है कि वह इस बारे में भी सतर्क रहता है कि उस के निजी विश्वासों में और सार्वजनिक रूप से घोषित (पब्लिक) आदर्शों में भेद तो नहीं है! धारणा और कर्म में सौ प्रतिशत सामंजस्य तो सिद्धों को मिलता है। उतना भाग्यवान् न हो कर भी अज्ञेय अन्तर्विरोध की भट्टी पर नहीं बैठा है और इस कारण अपने भीतर एक शान्ति और आत्मबल का अनुभव करता है। शान्ति और आत्म-बल आज के युग में शायद विलास की वस्तुएँ हैं। इस लिए इस कारण से अज्ञेय हिन्दी भाइयों और विशेष रूप से हिन्दीवाले भाइयों से कुछ और अलग पड़ जाता है और कुछ और अकेला हो जाता है।

यहाँ यह भी स्वीकार कर लिया जाये कि यहाँ शायद सच्चाई को अधिक सरल कर के सामने रखा गया है; उतनी सरल वास्तविकता नहीं है। एक साथ ही चरम निश्चलता का और चरम गतिमयता का आकर्षण अज्ञेय की चेतना के अंतर्विरोध का सूचक है। पहाड़ उसे अधिक प्रिय है या सागर, इस का उत्तर वह नहीं दे पाया है, स्वयं

अपने को भी। वह सर्वदा हिमालय के हिमशिखरों की ओर उन्मुख कुटीर में रहने की कल्पना किया करता है और जब-तब उधर कदम भी बढ़ा लेता है; पर दूसरी ओर वह भागता है बराबर सागर की ओर, उस के उद्वेलन से एकतानता का अनुभव करता है। शान्त सागर-तल उसे विशेष नहीं मोहता——चट्टानों पर लहरों का घात-प्रतिघात ही उसे मुग्ध करता है। सागर में वह दो बार डूब चुका है; चट्टानों की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ में वह कई बार फिसल कर गिरा है और दैवात् ही बच गया है। पर मनःस्थिति ज्यों की त्यों है: वह हिमालय के पास रहना चाहता है पर सागर के गर्जन से दूर भी नहीं रहना चाहता! कभी हँस कर कह देता हैं: "मेरी कठिनाई यही है कि भारत का सागर-तट सपाट दक्षिण में है—कहीं पहाड़ी तट होता तो···!"

क्यों कि इस अन्तर्विरोध का हल नहीं हुआ है, इस लिए वह अभी स्वयं निश्चयपूर्वक नहीं जानता है कि वह अन्त में कहाँ जा टिकेगा। दिल्ली या कोई भी शहर तो वह विश्रामस्थल नहीं होगा, यह वह ध्रुव मानता है। पर वह कूर्मांचल हिमालय में होगा, कि कुमारी अन्तरीप के पास (जहाँ चट्टानें तो हैं!), या कि समझौते के रूप में विन्ध्य के अंचल की कोई बनखंडी जहाँ नदी-नाले का मर्मर ही हर समय सुनने को मिलता रहे इस का उत्तर उसे नहीं मिला। उत्तर की कमी कई बार एक अशान्ति के रूप में प्रकट हो जाती है। वह 'कहीं जाने के लिए' बेचैन हो उठता है। (मुक्तिबोध का '**माइग्रेशन इनस्टिंक्ट**'?) कभी इस की सूरत निकल आती है; कभी नहीं निकलती तो वह घर ही का सब सामान उलट-पलट कर उसे नया रूप दे देता है: बैठक को शयन कक्ष, शयन को पाठागार, पाठागार को बैठक, इत्यादि। उस से कुछ दिन लगता है कि मानों नये स्थान में आ गये—फिर वह पुराना होने लगता है तो फिर सब बदल दिया जाता है! इसी लिए घर का फर्नीचर भी अज्ञेय अपने डिज़ाइन का बनवाता है। ये जो तीन

चौकियाँ हैं न, इन्हें यों जोड़ दिया जाये तो पलंग बन जायगा; ये जो दो डेस्क-सी दीखती हैं, एक को घुमा कर दूसरे से पीठ जोड़ दीजिए, भोजन की मेज़ बन जायेगी यदि ग्राप फर्श पर नहीं बैठ सकते। वह जो पलंग दीखता है, उस का पल्ला उठा दीजिए—नीचे वह सन्दूक है। या उसे एक सिरे पर खड़ा कर दीजिए तो वह ग्रालमारी का काम दे जायगा ! दीवार पर शरद् ऋतु के चित्र हैं न ? सब को उलट दीजिए : ग्रब सब चित्र वसन्त के ग्रनुकूल हो गये—ग्रब बिछावन भी उठा कर शीतल-पाटियाँ डाल दीजिए ग्रौर सभी चीज़ों का ताल-मेल हो गया···

पुरातत्त्ववेत्ता की छाया में ग्रकेले रहने का एक लाभ ग्रज्ञेय को ग्रौर भी हुग्रा है। चाहे विरोधी के रूप में चाहे पालक के रूप में, वह बराबर परम्परा के सम्पर्क में रहा है। रूढ़ि ग्रौर परम्परा ग्रलग-अलग चीजें हैं, यह उसने समझ लिया है। रूढ़ि वह तोड़ता है ग्रौर तोड़ने के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन परम्परा तोड़ी नहीं जाती, बदली जाती है या ग्रागे बढ़ायी जाती है, ऐसा वह मानता है; ग्रौर इसी के लिए यत्नशील है। कहना सही होगा कि वह **मर्यादावान् विद्रोही** है। फिर इस बात को चाहे ग्राप प्रशंसा से कह लीजिए चाहे व्यंग्य ग्रौर विद्रूप से।

एक ग्रोर एकान्त, और दूसरे में एकान्त का निरन्तर बदलता हुआ परिवेश—कभी कश्मीर की उपत्यकाएँ, कभी बिहार के देहात, कभी कोटागिरि-नीलगिरि के आदिम जातियों के गाँव, कभी मेरठ के खादर और कभी ग्रसम ग्रौर पूर्वी सीमान्त के वन-प्रदेश—इस ग्रनवरत बदलते हुए परिवेश ने अकेले ग्रज्ञेय को ग्रात्म-निर्भरता का पाठ बराबर दुहरवाया है। इस कारण वह जितना जैसा जिया है ग्रधिक सघनता ग्रौर तीव्रता से जिया है। 'रूप-रस-गन्ध-गान'—सभी की प्रतिक्रियाएँ उस में अधिक गहरी हुई हैं। सिद्धान्ततः भी वह मानता है कि

कवि या कलाकार ऐन्द्रिय चेतना की उपेक्षा नही कर सकता। और परिस्थितियों ने उसे इस की शिक्षा भी दी है कि ऐन्द्रिय संवेदन को कुन्द न होने दिया जाय। यह यों ही नहीं है कि आँख, कान, नाक आदि को 'ज्ञानेन्द्रियाँ' कहा जाता है। ये वास्तव में खिड़कियाँ है जिन में से व्यक्ति जगत को देखता और पहचानता है। इनके संवेदन को अस्वीकार करना संन्यास या वैराग्य का अग नहीं है। वह पन्थ आसक्ति को छोड़ता है यानी इन संवेदनों से बँध नहीं जाता; यह नहीं है कि इन का उपयोग ही वह छोड़ देता है। जब अज्ञेय को ऐसे लोग मिलते हैं जो गर्व से कहते हैं कि 'हमें तो खाने में स्वाद का पता ही नहीं रहता—हम तो यह भी लक्ष्य नहीं करते कि दाल में नमक कम है या ज्यादा', तो अज्ञेय को हँसी आती है। क्यो कि यह वह अस्वाद नहीं जिसे आदर्श माना गया, यह केवल एक विशेष प्रकार की पंगुता है। इस में और इस बात पर गर्व करने में कि 'मुझे तो यह भी नहीं दीखता कि दिन है या रात', कोई अन्तर नही है। अगर अन्धापन या बहरापन श्लाघ्य नहीं है तो जीभ का या त्वचा का अपस्मार ही क्यों श्लाघ्य है? ज्ञानेन्द्रियों की सजगता अज्ञेय की कृतियों में प्रतिलक्षित होती है और वह मानता है होनी भी चाहिए। कम या ज़्यादा नमक होने पर भी दाल खा लेना एक बात है, और इस को नहीं पहचानना बिल्कुल दूसरी बात है।

अज्ञेय मानता है कि बुद्धि से जो काम किया जाता है उस की नींव हाथों से किये गये काय पर है। जो लोग अपने हाथों का सही उपयोग नहीं करते उन की मानसिक सृष्टि में भी कुछ विकृति या एकांगिता आ जाती है। यह बात काव्य-रचना पर विशेष रूप से लागू है क्यों कि अन्य सब कलाओ के साथ कोई-न-कोई शिल्प बँधा है, यानी अन्य सभी कलाएँ हाथों का भी कुछ कौशल माँगती है। एक काव्य-कला ही ऐसी है कि शुद्ध मानसिक कला है। प्राचीन काल में शायद इसी लिए कवि-कर्म को कला नहीं गिना जाता था। अज्ञेय प्राय: ही

हाथ से कुछ न कुछ बनाता रहता है और बीच-बीच में कभी तो मानसिक रचना को बिल्कुल स्थगित कर के केवल शिल्प-वस्तुओं के निर्माण में लग जाता है। बढ़ईगीरी और बाग़वानी का उसे ख़ास शौक है। लेकिन और भी बहुत-सी दस्तकारियों में थोड़ी-बहुत कुशलता उस ने प्राप्त की है और इन का भी उपयोग जब-तब करता रहता है। अपने काम के देशी काट के कपड़े भी वह सी लेता है और चमड़े का काम भी कर लेता है। थोडी-बहुत चित्रकारी और मूर्तिकारी वह करता है। फ़ोटोग्राफ़ी का शौक़ भी उसे बराबर रहा है और बीच-बीच में प्रबल हो उठता है।

हाथों से चीजें बनाने के कौशल का प्रभाव जरूरी तौर पर साहित्य-रचना पर भी पड़ता है। अज्ञेय प्राय: मित्रों से कहा करता है कि अपने हाथ से लिखने और शीघ्र लेखक को लिखाने में एक अन्तर यह है कि अपने हाथ से लिखने में जो बात बीस शब्दों में कही जाती लिखाते समय उस में पचास शब्द या सौ शब्द भी सर्फ़ कर दिये जाते हैं! मितव्यय कला का एक स्वाभाविक धर्म है। रंग का, रेखा का, मिट्टी या शब्द का अपव्यय भारी दोष है। अपने हाथ से लिखने में परिश्रम किफ़ायत की ओर सहज ही जाता है। लिखाने में इस में चूक भी हो सकती है। विविध प्रकार के शिल्प के अभ्यास से मितव्यय का—किसी भी इष्ट की प्राप्ति में कम-से-कम श्रम का—सिद्धान्त सहज-स्वाभाविक बन जाता है। भाषा के क्षेत्र में इस से नपी-तुली, सुलझी हुई बात कहने की क्षमता बढ़ती है, तर्क-पद्धति व्यवस्थित, सुचिन्तित और क्रमसगत होती है। अज्ञेय इन सब को साहित्य के बड़े गुण मानता है और बराबर यत्नशील रहता है कि उस का लेखन इस आदर्श से स्खलित न हो।

दूसरे की बात वह ध्यान से और धैर्य से सुनता है। दूसरे के दृष्टिकोण का, दूसरे की सुविधा का, दूसरे के प्रिय-अप्रिय का वह बहुत ध्यान रखता है—कभी-कभी ज़रूरत से ज्यादा। नेता के गुणों

में एक यह भी होता है कि अपने दृष्टिकोण को अपने पर इतना हावी हो जाने दे कि दूसरे के दृष्टिकोण की अनदेखी भी कर सके। निरन्तर दूसरे के दृष्टिकोण को देखते रहना नेतृत्व कर्म में बाधक भी हो सकता है। इस लिए नेतृत्व करना अज्ञेय के वश का नहीं है। वह सही मार्ग पहचान कर और उस का इंगित दे कर भी फिर एक तरफ़ हट जायेगा, क्योंकि "दूसरों का दृष्टिकोण दूसरा है" और वह उस दृष्टिकोण को भी समझ सकता है!

'मार-मार कर हकीम' न बनाने की इस प्रवृत्ति के कारण अज्ञेय को विश्वास बहुत लोगों का मिला है। मित्र उस के कम रहे हैं, पर अपनी समस्याएँ ले कर बहुत लोग उस के पास आते हैं; ऐसे लोगों को खुल कर बात करने में कभी कठिनाई नहीं होती। सभी की सहायता की जा सके ऐसे साधन किस के पास हैं: पर धीरज और सहानुभूति से सुनना भी एक सहायता है जो हर कोई दे सकता है (पर देता नहीं)।

लेकिन इस धीरज के साथ-साथ अव्यवस्थित चिन्तन के प्रति उस में एक तीव्र असहिष्णुता भी है। चिन्तन के क्षेत्र में किसी तरह का भी लबड़धोंधोंपन उसे सख्त नापसन्द है और इस नापसन्दगी को प्रकट करने में वह संकोच नहीं करता। इसी लिए उस के मित्र बहुत कम हैं। हिन्दीवालों में और भी कम, क्यों कि हिन्दी साहित्यकार का चिन्तन भारतीय साहित्यकारों में अपेक्षया अधिक ढुलमुल होता है। साहित्यकार ही क्यों, हिन्दी के आलोचकों और अध्यापकों का सोचने का ढंग भी एक नमूना है।

अज्ञेय हिन्दी के हाथी का दिखाने का दाँत है। कभी-कभी उस को इस पर आश्चर्य भी होता है और खीझ भी। क्यों कि वह अनुभव करता है कि हिन्दी के प्रति उस की आस्था अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी-वालों से अधिक है और साथ ही यह भी कि वह बड़ी गहराई में और बड़ी निष्ठा के साथ भारतीय है। यानी वह खाने के दाँतों की अपेक्षा

हिन्दी के हाथी का अधिक अपना है। यों तो ख़ैर, दाँत ही हाथी का हो सकता है, कोई जरूरी नहीं है कि हाथी भी दाँत का हो। लेकिन शायद ऐसा सोचना भी अज्ञेय की दुर्बलता है—यह भी 'दूसरे के दृष्टि-कोण को देखना' है। वह अपने को हिन्दी का मान कर चलता है जब कि आर्थोडाक्स हिन्दीवाला हिन्दी को अपनी मानता ही नही वैसा दावा भी करता है; अज्ञेय अपने को भारत का मानता है जब कि आर्थोडाक्स भारतीय देश को अपना मानता हैं। हिन्दी के एक बुज़ुर्ग ने कहा था, "विदेशों में हिन्दी पढ़ाने के लिए तो अज्ञेय बहुत ही उपयुक्त हैं, बल्कि इस से योग्यतर व्यक्ति नहीं मिलेगा; लेकिन भारतीय विश्व-विद्यालयों में—" और यहाँ उन का स्वर एकाएक बिलकुल बदल गया था—"और हिन्दी क्षेत्र में—देखिए, हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी साहित्य पढ़ाने के लिए तो दूसरे प्रकार की योग्यता चाहिए।" इस कथन के पीछे जो प्रतिज्ञाएँ हैं उन से अज्ञेय को अपार क्लेश होता है। लेकिन—और इसे उसका अतिरिक्त दुर्भाग्य समझिए—इस दृष्टिकोण को वह समझ भी सकता है। पिछले दस-बारह वर्षों के उस के कार्य की जड़ में यही उभयनिष्ठ भाव लक्षित होता है। यह दिखाने का दाँत चालानी माल (**एक्सपोर्ट कमाडिटी**) के रूप में बराबर बाहर रहा है लेकिन हर बार इस लिए लौट आया है कि अन्ततोगत्वा वह भारतीय है, भारत का है और भारत में ही रहेगा।

यह समस्या अभी उस के साथ है और शायद अभी कुछ वर्षों तक रहेगी। बचपन में उस के भविष्य के विषय में जिज्ञासा करने पर उस के माता-पिता को एक ज्योतिषी ने बताया था कि "इस जातक के शत्रु अनेक होंगे लेकिन हानि केवल बन्धुजन ही पहुँचा सकेंगे।" अज्ञेय नियतिवादी नहीं है लेकिन स्वीकार करता है कि चरित्र की कुछ विशेष-ताएँ ज़रूर ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती हैं। इस लिए शायद '**यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है**' कि अनेक शत्रुओं के रहते हुए भी अज्ञेय वध्य है तो केवल अपने बन्धुओं द्वारा।

ऐसा ही अच्छा है। उसी ज्योतिषी ने यह भी बताया था कि "इस जातक के पास कभी कुछ जमा-जत्था नहीं होगा, लेकिन साथ ही ज़रूरी ख़र्चे की कभी तंगी भी नहीं होगी—यह या तो फ़क़ीर होगा या राजा।" और फिर कुछ रुक कर, शायद फ़क़ीरी की आशंका के बारे में माता-पिता को आश्वस्त करने के लिए, और **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** को ध्यान में रख कर, उसने एक वाक्य और जोड़ दिया था जिस की व्यंजनाएँ अनेक हैं। "यह असल में तबीयत का बादशाह होगा।"

जी हाँ, तबीयत के अलावा और कोई बादशाहत अज्ञेय को नहीं मिली है। लेकिन यह बनी रहे तो दूसरी किसी की आकांक्षा भी उसे नहीं है।

हौआ-प्रकरण-१

काश कि ऐसी होती वह : कैसी ? हज़ारों वर्षों से कवि लोग इस सवाल का जवाब खोजते आये हैं—या बनाते भी आये हैं। अपने सपनों की, अपनी कल्पना की 'वह' कैसी होगी, इस पर कोश-कोश-भर शब्द खर्च कर के भी कवि अघाते नहीं हैं। और इस में भूल जाते हैं—और पाठक को भी भुला देते हैं !—कि असल सवाल, और सच कहें तो असली और बुनियादी आकांक्षा, इस घटाटोप के नीचे दब गयी है : काश वह ऐसी न होती ! यों तो इच्छा में ही इस बात का स्वीकार निहित है; 'काश वह ऐसी होती' का मतलब ही यही है कि वह ऐसी नहीं है, कुछ दूसरी है। हो सकता है कि उस बात को निहित रहने देने में शायद कवि की—या सारे पुरुष-समाज की—आशा यही रही है कि कल्पना के सहारे यथार्थ की कड़वाहट को अनदेखा कर देंगे। पर क्या जब-जब हम इच्छा प्रकट करते हैं कि वह ऐसी हो, तब-तब प्रतिध्वनि मूल बात को और सामने नहीं लाती कि वैसी वह नहीं है ? और प्रतिध्वनि का स्वभाव है मूल को थोड़ा विकृत कर देना, इस लिए क्या पहले से ही कड़वी बात और कड़वी हो कर ही सामने नहीं आती ?

खैर ! 'कैसी होती है वह' का जवाब भी कोई क्यों देता है, मेरी

समझ में नहीं आता। क्योंकि 'कैसी न होती वह' के बाद दूसरी बात जो पुरुष-समाज चाहता है—और कवि भी आख़िर तो पुरुष होते ही हैं, कुछ चाहे किंपुरुष भी होते हों!—वह यह कि उस के सपनों की वह, किसी भी एक तरह की न होती। यानी कि 'कैसी होती वह' नहीं, 'कैसी होतीं वे' ही उस की कल्पना का असल विषय होता है। कैसी होती वे—और अन्त में यह कि जब सब रूपों का बखान हो चुके तब उस के आगे भी एक अप्रत्याशित, अकल्पित रूप बाक़ी रह जाये जिसे कवि ताकता रह जाये, बस, ताकता रह जाये! इस लिए मानना होगा कि कवि की **प्रिये प्राणों की प्राण**! से ज़्यादा सही बात उपन्यास-कार ने कही जिस ने **ओ तू**! कह कर छोड़ दिया : अब इस 'तू' को कोई चाहे जिस या जिस-जिस रूप में सँवार ले!

अपनी बात कहूँ : वह अप्रत्याशित विविधरूपिणी हो, इस माँग से आगे सोच नहीं पाता कि क्या चाहूँ; कल्पना को कोई मूर्त्त रूप नहीं दे पाता। या शायद यह कहना चाहिए कि अब नहीं दे पाता, पहल कदाचित् इस से आगे भी सोचता। जानता हूँ कि जो भी चाहूँगा, शब्दशः उस की पूर्त्ति करता हुआ भी ऐसा कुछ हो जायेगा जो बिल्कुल अकल्पित हो। अप्रत्याशित कुछ हो ऐसा तो पुरुष चाहता है, पर वह अकल्पित ऐसा हो कि और जो-कुछ चाहा गया है वह अपने-आप कट जाये तब क्या हो? अब जैसे यही लीजिए : शायद ही कोई चाहता है कि 'वह' मुझ से अधिक अक़्लमन्द हो। पर मुश्किल यह है कि 'वह' इस बात को ख़ूब समझती है। इस लिए वह कम अक़्ल बन कर ही सामने आती है : पुरुष भी खुश और वह भी विजयिनी। अब इसे कमअक़्ली कहा जाये या कि अक़्लमन्दी?

•

सब से बड़ा सौभाग्य तो यह हो कि सच-सच कह सके : वह जैसी है वैसी ही होती—और वैसी ही रहे! 'वह **कितनी ऊँची है?**'—'**कि मेरे दिल तक पहुँचती है।**' जिन का ऐसा सौभाग्य है—और

वास्तव में टिकाऊ सौभाग्य है, क्यों कि ऐसा आभास तो कइयों को कई बार हो सकता है कि 'वह दिल तक पहुँचती है' जब कि वास्तविक स्थिति यह हो कि दिल ही गच्चा खा कर लोट-पोट होता हुआ उन के आस-पास कहीं जा गिरा हो!—जिन का ऐसा सौभाग्य है उन्हें बधाई देता हूँ। यह दूसरी बात है कि मन ही मन यह सोचूँ कि अगर वे सच-मुच ऐसा मानते हैं तो भी शायद हैं गलती पर—वह जैसी है वैसी है नहीं, या कम से कम दूसरों की दृष्टि में नहीं होगी। और जिन का ऐसा सौभाग्य नहीं है उन्हें--उन्हें भी बधाई ही देनी चाहिए इस लोक-तन्त्र के ज़माने में—क्योंकि उन्हीं की संख्या अधिक है।

काश कि ऐसी होती वह : ऐसी, कि मेरी इस सारी बात को पढ़-सुन कर, चिढ़ती नहीं, हँस देती। मेरे साथ वह हँस सके, मुझ पर नहीं, इस से आगे मुझे कुछ नहीं चाहिए !*

*बी० बी० सी०, लन्दन, से प्रसारित

हौआ-प्रकरण–२

मैं कैसी स्त्री चाहता हूँ, इस का जवाब ग्रासान नहीं है। क्योंकि किसी को इस का ठीक-ठीक उत्तर देना हो, तो पहले इसी बात का निर्णय करना होगा कि वह विशेष 'मैं' स्त्री चाहता भी है या नहीं। ग्रौर फिर यह भी सोचने की बात है कि कल्पना की उड़ान में जैसी कीं चाहना की जाती है, क्या वास्तविक जीवन में भी वैसी ही स्त्री चाही जा सकती है. या मिल सकती है ?

इतने बड़े सवाल का समुचित उत्तर देने का यहाँ न समय है, न स्थान। ग्रधिक-से-अधिक इतना किया जा सकता है कि एक विचार-पद्धति का संकेत-भर दे दिया जाय। उस से ग्रागे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वह परिस्थिति ग्राती है, जहाँ वह प्रार्थना करता है—'हे देव! जैसी स्त्री मैं चाहता हूँ (लेकिन स्वयं नहीं जानता कि कैसी चाहता हूँ) वैसी ही मुझे मिले।'

बात के दो पहलू होते हैं। जब दामाद ग्रपनी स्त्री के वश में होता है, तब कन्या देवी जान पड़ती है ग्रौर दामाद साधु पुरुष; लेकिन जब पुत्र अपनी स्त्री के वश में होता है, तब वधू डायन हो जाती है ग्रौर पुत्र नालायक। प्रत्येक पुरुष दो प्रकार की स्त्रियाँ चाहता है—एक

तरह की औरों के लिए, दूसरी तरह की अपने लिए ।

सौन्दर्य की बात तो जाने दीजिए। प्रत्येक पुरुष चाहता है सब स्त्रियाँ सुन्दर हों, बल्कि कुछ तो शायद यह भी चाहते हैं कि दूसरों की स्त्रियाँ अपनी स्त्री से कुछ अधिक ही सुन्दर हों (लेकिन दूसरे पुरुष उन से कदापि सुन्दर न हों !) क्योंकि जब आँखे है, तो उन का इस्तेमाल तो होगा ही, और जब उन का इस्तेमाल होगा ही, तब उन्हें सुन्दर चीज़ ही दीखनी चाहिए। (पर यदि दूसरे पुरुष सुन्दर होंगे, तो अपनी स्त्री का शील कैसे निभेगा ?)

दूसरों की स्त्रियाँ मिलनसार होनी चाहिए । अतिथि का सत्कार करने में दक्ष और कर्त्तव्यनिष्ठ; यहाँ तक कि मेहमानदारी निबाहने में उन्हें अपने पति को कष्ट देने के लिए भी तैयार रहना चाहिए ।

दूसरों की स्त्रियों में बहिर्जगत् का आकर्षण होना चाहिए—सैर में, पिकनिक-पार्टियों में, सिनेमा-तमाशों में उन्हें रुचि होनी ज़रूरी है, क्यों कि इन के बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता और स्त्रियाँ अब तक गुलाम इसी लिए हैं कि उन का व्यक्तित्व विकसित नहीं हुआ ।

दूसरों की स्त्रियों में गुणग्राहकता होनी चाहिए और दूसरों की त्रुटियों के प्रति उदारता । जिस में जो गुण हों, उसे पहचान कर उस का समुचित आदर करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए और पहचान के मामले में उन्हें पक्षपात-पूर्ण या संकुचित नहीं होना चाहिए—अपने पति को सर्वगुण-निधान मान कर आँखें बन्द नहीं कर लेनी चाहिए ।

दूसरों की स्त्रियों को 'मॉडर्न' (आधुनिक) होना चाहिए, प्रगतिशील होना चाहिए। आजकल के ज़माने में घूँघट-पर्दा जैसी व्यर्थ चीजों का उन्हें कार्यात्मक विरोध तो करना ही चाहिए, इसके अलावा विवाहित जीवन का जो 'घरेलू' आदर्श हमारे पुरखा मानते थे, उस का भी उन्हें खंडन करना चाहिए। जो स्त्री समय के साथ नहीं चल

सकती, उस का जीवन ही क्या ?

लेकिन अपनी स्त्री—ऊँ-हुक् ! अपनी स्त्री में एकाग्रता और संयम का गुण होना चाहिए। उस में क्षमता होनी चाहिए कि सौ काम छोड़ कर भी पति की ओर ध्यान दे सके (और दे)। जीवन की भीत ही है कुटुम्ब, उस की रक्षा करना स्त्री का परम कर्त्तव्य है। इस के लिए सैर-सपाटे और खेल-तमाशों का त्याग करना पड़े तो उसे चाहिए कि प्रसन्नता से उन्हें तिलांजलि दे दे और इसे बेगार न समझ कर अपना गौरव जाने, क्यों कि इस के द्वारा वह जगत को पालने वाली, ईश्वर की समकक्ष, हो जाती है।

अपनी स्त्री में विवेक आवश्यक है। यह मानी हुई बात है—आज-कल का विज्ञान भी यही कहता है—कि स्त्री स्वभावत: रूढिवादी है, पुरुष क्रान्तिवादी। स्थायित्व स्त्री की मुख्य देन है। उसी का काम है कि वह जीवन को एकदम डाँवाडोल नहीं हो जाने देती, हर-एक लहर में स्वयं नहीं बह जाती। नयेपन के आकर्षण में पड़ कर उसे अपना सनातन रूप नहीं भूल जाना चाहिए। जो नया है, वह कल पुराना भी तो हो जायगा, लेकिन जो प्राचीन है, वह चिरन्तन है। 'मॉडर्न' होने का तो आजकल एक रोग हो गया है, जिस से खुदा बचाये।

और अपनी स्त्री को सादगी-पसन्द होना चाहिए। सिल्क-सैटिन, जार्जेट-किमखाब, जरी-गोटा, पाउडर-क्रीम, बैंगल-ब्रेसलेट—जिस का जीवन इन्हीं में रमा हो उस की क्षुद्र आत्मा क्या कर सकेगी? आर्थिक दृष्टि से भी देखा जाय, तो यह पूँजी को ऐसी जगह डाल देना है, जहाँ मूल-धन तो नष्ट होता है, सूद भी नहीं प्राप्त होता। और कौन यह नहीं जानता कि फ़ैशन का मोह कितना भयंकर है ? दूसरों की स्त्रियाँ फ़ैशनेबल होती हैं, तो हों, बला से।

लेकिन ये सब आम बातें हैं। इस प्रकार की बातें कोई भी पुरुष

स्त्रियों के बारे में कह सकता है। जहाँ व्यक्तिगत मेरा प्रश्न आता है, वहाँ मैं अपने लिए एक बड़ी भारी क़ैद रखना चाहता हूँ।

किसी भी स्त्री को—चाहे कैसी भी स्त्री को—चाहने की प्रकांड बेवक़ूफ़ी जब मैं करूँगा, तब उसे अख़बार में छपाने नहीं जाऊँगा। अखबार में यदि कुछ घोषित कर सकता हूँ तो यही कि सिद्धान्ततः मैं इस बात को ही ग़लत समझता हूँ कि कोई पुरुष किसी स्त्री को चाहे। दुनिया की तमाम बेवक़ूफ़ियों की यह जड़ है। इस के अलावा चाहने का काम प्रकृति ने तो मादा के ही सिपुर्द किया है। हाँ, स्त्री द्वारा चाहा जाना दूसरी बात है। कोई यह पूछे कि कैसी स्त्री द्वारा चाहा जाना मैं पसन्द करूँगा तब दो-एक बातें मैं कह सकता हूँ। सुनिए :

प्रकृति ने आरम्भ में मानवेतर प्राणियों को एकपत्नीव्रती (मॉनोगैमस) बनाया था, लेकिन जब प्रकृति की उत्पत्तिशीलता ने उन के आगे जीवन-संग्राम की—अस्तित्व के लिए संघर्ष की—समस्या खड़ी कर दी, तब सहूलियत और जैविक मितव्ययिता के कारण वे बहुविवाही दलों में रहने लगे। उदाहरणार्थ, बन्दरों के गिरोह में एक वानरराज ही सारे 'हरम' का पति होता है, बाकी बन्दर 'दरबारी' होते हैं, जो इस ताक में रहते हैं कि वानरराज कब कमज़ोर हों और कब उन्हें लपक-झपक का मौक़ा मिल जाये। एक को हटा कर दूसरा वही राजा बनता है, जो अपने पराक्रम से बाकी सब को मार भगाये—हरा दे। तब यह दूसरा राजा उसी 'हरम' का पति बन जाता है।

इस के विपरीत मनुष्य प्रकृति से बहुविवाही (पॉलीगैमस) है और आर्थिक दबाव से मजबूर हो कर ही एकव्रती बन कर रहने लगा है। यहाँ नैतिकता का प्रश्न नहीं है, क्यों कि नैतिकता तो हमारी जीव-प्रकृति-सम्बन्धी (बायोलॉजिकल) प्रेरणाओं के पीछे चलने वाली चीज़ है।

पुश्त-दर-पुश्त एकव्रती हो कर रहने पर भी पुरुष अपनी बहुविवाही वृत्तियों को एकदम दबा नहीं सका है। वह उन्हें दूसरे तरीक़ों

से शान्त करना चाहता है। फलतः अनेक प्रकार के खिंचाव पैदा हो जाते हैं, एक संघर्ष-सा उठ खड़ा होता है, जो कभी-कभी विनाशकारी भी हो सकता है। इस लिए स्त्री को ऐसा होना चाहिए (यानी मैं ऐसी स्त्री द्वारा चाहा जाना पसन्द करूँगा) जो एक ही में अनेक व्यक्तित्व रख सके, विभिन्न अवसरों पर जिस के विभिन्न रूप और विभिन्न पहलू हों और इस प्रकार जो स्वयं एक हो कर भी पुरुष की बहुविवाही वृत्ति को आप्यायित कर सके।

प्रकृति का काम तो वहीं समाप्त हो जाता है, जहाँ स्त्री को मातृत्व मिल जाता है। (आज भी लोग स्त्री को 'अमुक की माँ' कह कर पुकारते हैं)। लेकिन स्त्री का काम वहाँ समाप्त नहीं होता। स्त्री को कम से कम इतने रूप धारण करने में तो समर्थ होना ही चाहिए: (१) बच्चों की माता, (२) बौद्धिक सहयोगिनी और सखी, (३) उद्यमशील और पराक्रमी शिकारी की साथिन (यानी जो जीवन-संग्राम में लड़ सके, लड़ने को उत्साहित कर सके और संघर्ष में जय की हुई वस्तु की निधि हो सके), (४) नुमाइशी कला की कोमल वस्तु (जिसे यत्न के साथ सँभाल कर रखा जाये, (५) खिलौना (जिस के साथ खेल कर मनोरंजन किया जा सके, और बाल-भावना को तृप्त किया जा सके) और (६) रक्षिका (वह मजबूत लकड़ी, जिस पर वक्त पड़ने पर झुका जा सके, जो सँभाले)।

यह न समझना चाहिए कि इस में स्त्री पर कोई ऐसा विशेष बोझ डाला जा रहा है, जिस से पुरुष मुक्त है। स्त्री के ये विभिन्न रूप वास्तव में उन विभिन्न रूपों के प्रतिरूप हैं, जो पुरुष अपने में पाता है। पुरुष अपने माता-पिता, भाई-बहन को छोड़ कर जिसे अपनाता है, उस में इतना सामर्थ्य होना चाहिए कि वह उस की पूरक हो— उस की कमियों को पूरा कर सके।

स्त्री स्वभावतया रूढ़िवादी है, जीवन को स्थायित्व देती है। पुरुष स्वभावतया क्रान्तिवादी है, विकास की ओर बढ़ता है। लेकिन प्रत्येक

पुरुष में स्त्रीत्व का कुछ अंश होता है (जो अनेक प्रकार से प्रकट हो सकता है) तब प्रत्येक स्त्री में भी पौरुष का कुछ अंश होना चाहिए। लेकिन कैसा पौरुष? लड़ना भी तो पुरुष का गुण है। स्त्री में पौरुष का सर्व-श्रेष्ठ रूप वह है, जो उसे उदार बनाता है, जो उसे सामर्थ्य देता है कि वह विकास और परिवर्तन के प्रति सहनशील हो सके और उसे जीवन में घटित करने में पुरुष की सहायक हो सके। प्रकृति से वह रूढ़िवादी है लेकिन बुद्धि से वह क्रान्तिवादी हो सकती है। पुरुष आगे बढ़ जाता है: उस नयी स्थिति को कायम रखना स्त्री का काम है, ताकि पुरुष फिर पीछे न खिसक आये। पुरुष में इस प्रकार की व्यावहारिक कार्य-कुशलता नहीं होती: उस की कमी स्त्री ही पूरी कर सकती है।

स्त्रियों में विनोद-वृत्ति (सेंस ऑफ ह्यूमर) नहीं होती। इस का एक ही प्रमाण काफी है। संसार के साहित्य में कोई हास्य-लेखिका नही दीख पड़ती। हाजिर-जवाबी उन में रही है। एक पैना और कभी-कभी विषैला चातुर्य (विट) उन में मिलता है, लेकिन सच्चा हास्य कभी नहीं। यह शायद इसी लिए है कि जीवन का सब से गम्भीर उत्तरदायित्व उन पर है—जाति को कायम रखना—प्रजनन। पुरुष को गम्भीर (सीरियस) समझा जाता है, लेकिन उस में तटस्थ होने की योग्यता उसे हास्यवृत्ति देती है। स्त्रियों में तटस्थ होने की योग्यता नहीं होती (मौका भी नहीं होता, यह ठीक है)। यदि मैं कभी यह गवारा करूँगा कि किसी स्त्री की चाहना मुझ में हो, तो ऐसी स्त्री चाहूँगा, जिस में हास्यवृत्ति काफी मात्रा में हो, जो संसार पर भी हँस सके, अपने पर हँस सके और हाँ, मुझ पर हँस सके—यद्यपि मुझ पर बहुत अधिक नहीं!

लिख तो मैं गया, लेकिन अब सोच रहा हूँ कि इस से होगा क्या? शायद मेरी गति उस आदमी-सी ही होगी, जो फाँसी के ख़िलाफ़ प्रचार किया करता था। वह सदा कहता था कि तलवार से मरना

ठीक, ज़हर खा कर मरना ठीक, डूब कर मरना ठीक, बिजली से मरना ठीक, लेकिन फाँसी !—वह किसी राक्षस की सूझ है। एक दिन उसे एक जल्लाद मिल गया। उस की बात सुन कर जल्लाद को क्रोध हो आया। जल्लाद ने कहा—"क्यों बे, तू मेरे निःस्पृह आत्म-त्याग की कद्र न कर के उलटा मेरे व्यवसाय के विरुद्ध प्रचार करता है ?" और प्रचारक को एक चाँटा रसीद किया। उस के बाद, जानते हैं प्रचारक का क्या हुआ ? उसे दी गयी—फाँसी।

लेकिन ख़ैर। जो आता है, सो आये। अभी तो मैं अपने मन की कह लूँ और ख़ुश हो लूँ कि मैं अभी तक विवाहित नहीं हूँ,* नहीं तो यह बात भी न कह पाता—ऐसा कुछ कहना बेमौत मरना होता—बल्कि उस से भी बदतर, बेमौत जीना होता।

---

*यह लेख कभी 'विशाल भारत' में "मैं कैसी स्त्री चाहता हूँ ?" विषय पर एक परिसंवाद के अन्तर्गत सन् '३७—'३८ में छपा था। तब लेखक का नाम दिया गया था डा० अब्दुल लतीफ़। इस के पुनः प्रकाशन का ख़ास प्रयोजन न होता, पर सन् १९७० में बी० बी० सी० में एकाएक यही प्रश्न पूछा जाने पर जो उत्तर दिया था (दे० पिछली टीप) उस ने याद दिलाया कि एक माँग (हँसी में ही प्रस्तुत की गयी सही) इतने वर्षों तक एक-सी बनी रही है : विनोद-प्रियता की माँग। नहीं जानता कि इसका और किसी के लिए कोई अर्थ होगा या नहीं, पर स्वयं प्रत्यव-लोकन करता हुआ अपने ही को समझने में इसे उपयोगी पाता हूँ। बेमौत मरने और बेमौत जीने, दोनों के यत्किंचित् आस्वादन के बाद जानता हूँ कि बात हँसी की नहीं है, पर इसी लिए तो हँसी के सिवा कोई चारा नहीं है !

कुट्टिजात-विनोदेन–१

हिन्दी के सब से अधिक जाने हुए अजनबी से मिलना कुछ आसान काम नहीं है, ऐसा उन के रोज़ के मिलने वालों से सुन रखा है। फिर भी जब विशेषांक के लिए विशेष भेंट कुछ विशेष प्रकार की होनी ही थी तब सोचा कि इस से भी विशेष और क्या होगा। घर पर वह किसी से मिलते नहीं या कोई मिलने पहुँच जाये तो घर उस को सौंप कर कहीं चल देते हैं; इस लिए दफ्तर ही जाना ठीक समझा।

"मैं आप से इंटरव्यू लेने आया हूँ।"

एक अभेद्य मुस्कान। "बैठिए तो। इंटरव्यू किस हैसियत से ?"

"जी, मैं विशेष संवाददाता···"

अब की बार थोड़ी हँसी। "आप की हैसियत नहीं पूछ रहा—वह तो जानता हूँ। लेकिन इंटरव्यू देने की मेरी क्या हैसियत ?"

मुझे ध्यान हुआ कि हमारे अजनबी एक से अधिक व्यक्तित्व बनाने और बनाये रखने में विश्वास रखते हैं। तत्परता से कहा, "मैं साहित्य-कार अज्ञेय—"

"अज्ञेय से इंटरव्यू ?" वह पीठ टेक कर बैठ गये और थोड़ी देर एकटक मेरी ओर देखते रहे। देखते-देखते (बल्कि यहाँ शायद मुझे कहना चाहिए दीखते-दीखते) मुझे लगा कि वह कहीं दूर हटते जाते

हैं। अलग, तटस्थ होते जा रहे हैं यानी एक व्यक्तित्व की जगह दूसरा व्यक्तित्व—(**भोक्ता की जगह द्रष्टा का !**)—पहना या ओढ़ा जा रहा है। यहाँ तक कि अब की बार जो व्यक्ति बोला वह मेरा तो अजनबी था ही, अज्ञेय के बारे में भी अन्यपुरुष के लहजे में बोला : "देखिए, अज्ञेय तो कृतिकार है। कृतिकार को जो कुछ कहना होता है कृति में ही कहता है : उस के बाहर जो कुछ कहे वह अविश्वास्य है। तब वह पूछने से फायदा ?"

मैं ने हठ करते हुए कहा, "आप और अज्ञेय क्या दो हैं ? मैं आप से पूछ रहा हूँ।"

"मैं ? मैं तो अब केवल पत्रकार हूं। कभी फिर साहित्यकार हो जाऊँगा। इस की आशा तो नहीं छोड़ी है, पर यह भी हो सकता है कि इस से भी गयी-गुज़री अवस्था में जा पड़ूँ—अध्यापक हो जाऊँ ! फ़िलहाल इस हीनतर पद का निर्वाह कर रहा हूँ। बल्कि कहिए तो मैं आप को इंटरव्यू कर लूँ—बल्कि (घंटी की ओर हाथ बढ़ाते हुए) पहले आप का फ़ोटो ही क्यों न खिंचवा लिया जाये—"

"मेरा क्या इंटरव्यू ? मैं तो आप का संवददाता हूँ। आप इंटरव्यू ले लेंगे तो मेरी रोज़ी भी खतरे में पड़ जायेगी। चलिए मैं एक सम्पादक पत्रकार से ही भेंट ले लेता हूँ।"

उन की मुस्कराहट में अनुमति थी।

मैं ने पूछा, "पत्रकार के नाते आप से राजनीति के बारे में भी पूछा जा सकता है। मैं दल-बदल के बारे में सवाल पूछना चाहता हूँ। आप कहते हैं और आप ने लिखा भी है कि प्रश्नों को व्यापक सांस्कृतिक सन्दर्भ में देखना चाहिए। लेकिन दल-बदल का सांस्कृतिक सन्दर्भ क्या हो सकता है ?"

"हो कैसे नहीं सकता ? राम-राज्य में—मेरा मतलब असल राम-राज्य से है, रामायण वाले राम-राज्य से, इस रामछाप कामराज्य से नहीं—राम-राज्य में ही विभीषण ने दल-बदल द्वारा राजपद पाया

था। अब जनता तो अभी तक कहती है कि विभीषण ने लंका ढायी; लेकिन राजपद से कभी किसी ने कहा कि राम ने अयोध्या ढायी ? जब कि हमारी असल चिन्ता लंका के बारे में नहीं, अयोध्या के बारे में होनी चाहिए।"

"तो आप का आशय मैं यह समझूँ कि हमारे यहाँ दल-बदल की परम्परा है और इस के पीछे रामायण का प्रभाव है ?"

फ़ौरन कोई जवाब नहीं मिला। सामने की मुस्कराहट की दीवार को देखते-देखते मुझे शरारत सूझी। मैं ने कहा, "क्षमा कीजिए, यह मुस्कान तो अज्ञेय वाली मशहूर मुस्कान है जिस का जो चाहे जो अर्थ लगा ले।"

"जी हाँ, मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो किसी भी प्रभाव से इनकार करने में ही गौरव समझते हैं। मै तो जिस के भी सम्पर्क में आता हूँ उस से प्रभाव ग्रहण करता हूँ। और अज्ञेय से तो मेरा घनिष्ठ सम्पर्क है, यह कोई रहस्य नहीं है।"

"अच्छा तो रामायण के प्रभाव से फिर आज के शासन को भी राम-राज्य माना जाये ?"

"राम-राज—कामराज—वामराज। जो चाहें मान लीजिए। थोड़ा सोचे तो कोई भी नाम सार्थक हो जायेगा।"

थोड़ा रुक कर मानों अन्तर्मुखीन स्वर से दोहराते हुए "वाम-राज !" फिर वह एकाएक ज़ोर से हँस दिये; मानों उन्हें इस का कोई नया अर्थ सूझा हो।

"राजीव और सोन्या के विवाह के बारे में आपकी क्या राय है ?"

"मैं क्या क़ाज़ी हूँ ? और होता भी तो—"

मैं ने दबे बिना कहा, "सुना है मुल्ला तो आप रहे हैं।"

"मुल्ला भी नहीं रहा, सिर्फ़ मुसलमान बन कर एक मौलवी के हुजरे में रह चुका हूँ। लेकिन ख़ैर, यह दाँव आप का रहा।"

"तो फिर राय ?"

"लोगों के निजी मामलों पर—"

"लेकिन प्रधानमन्त्री की सन्तान का विदेश में विवाह क्या सिर्फ़ निजी मामला है ? क्या इस स्तर के सार्वजनिक व्यक्तित्व के कौटुम्बिक सम्बन्ध भी सार्वजनिक महत्त्व नहीं रखते ?"

वह कुछ सोच में पड़ते हुए दीखे। अपना पलड़ा भारी समझ कर मैं ने थोड़ा और चिढ़ाने के लिए कहा : "और इस का जवाब भी मुझ को ऐतिहासिक सन्दर्भयुक्त चाहिए।"

इस पर वह हँसे। "यानी **खीर बनायी जतन से चरखा दिया चलाय** ? अच्छी बात है, वही सही। आप ने रोमन इतिहासकार प्लाइनी का नाम सुना है न ?"

"मैं ने कुछ अचकचाते हुए कहा, "हाँ-अँ-अँ।" डर लगा, कहीं वह प्लाइनी के बारे में कुछ पूछ ही न बैठें।

"तो प्लाइनी ने ईसा की पहली सदी में रोम और भारत—यानी रोम साम्राज्य और भारत साम्राज्य—के सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए इस बात पर खेद और चिन्ता प्रकट की थी कि रोम का सारा सोना खिंच कर भारत चला जा रहा है। सोना—सोन्या। लेकिन उस समय रोम का सोना इस लिए खिंचा चला आ रहा था कि भारतीय माल का आयात इतनी मात्रा में होता था। कला-विलास की सब सामग्री भारत से निर्यातित हो कर पश्चिम जाती थी और पश्चिम का सोना यहाँ आता था। अब विलास-वस्तुओं का आयात कौन कहाँ से करता है, यह बताने की ज़रूरत नहीं है। 'भारतेन्दु' ने फ़िरंगी की शिकायत की थी : हम सन्दर्भवश फ़िरंगी का अर्थ अंग्रेज लगाते रहे लेकिन फ़िरंगी नाम भी फ्रांस से बना है और इस का अर्थ भी था भूमध्यसागर के उत्तरी तट से आने वाले सभी गौरवर्ण विदेशी—क्या अंग्रेज, क्या फ्रांसीसी, क्या पुर्तगेजी और ओलदेजी, क्या इटालियन।"

"लेकिन क्या आप विषय से हट नहीं गये हैं ?"

"मैं ?" कुछ ऐसे स्वर से, मानों सारी दुनिया विषय से हट जाये,

वह ऐसा प्रमाद नहीं कर सकते। "जी नहीं, मेरी बात सोलहों आने सन्दर्भ ही है। थोड़ा सोचने की ज़रूरत है।"

"लेकिन पत्रकारिता में तो बात ऐसे कहनी चाहिए कि सोचने की ज़रूरत न पड़े—"

उन्होंने एकाएक बिगड़ कर कहा, "वैसी पत्रकारिता मैं नहीं करता— साहित्यकार नहीं रहा तो क्या हुआ ? वैसा इंटरव्यू आप को चाहिए तो—तो—" हाथ का एक अनेकार्थ-व्यंजक इशारा कर के सही चुप हो गये। उस इशारे की परिधि में मानों बहुत-से दूसरे पत्र या पत्रों के सम्पादक आ गये थे जिन का नाम लेना भी उन्हें गवारा नहीं था। "बात यह है कि मैंने कभी अपने पाठक को बेवक़ूफ़ नहीं समझा —पत्रकारिता में भी नहीं समझता।" फिर आँखों में एक व्यंग्य-भरी मुस्कान लाते हुए उन्होंने जोड़ दिया, "मैं तो भेंट करने वाले को भी पाठक के बराबर मानता हूँ—हाँ, आप चाहें कि आप को अपवाद समझा जाये तो जैसा आप कहें।"

मैं कुछ और पूछने जा रहा था कि एकाएक उन्होंने कहा, "आप तो **होली अंक** के लिए भेंट करने आये थे न ? तो फिर इतना काफ़ी है। मेरी भेंट वार्त्ता के लिए इस से अधिक जगह कोई सम्पादक नहीं देगा।" और थोड़ी देर रुक कर उन्होंने जोड़ दिया : "हालाँकि सम्पादक ज़रूर अपवाद भी हो सकता है।"

मैं ने ज़िद की : "कुछ पत्र तो परिशिष्टांक भी निकालते हैं— 'होली अंक' के बाद भी तो 'व्यंग्य-विनोद अंक' हो सकता है।"

"उच्छिष्टांक ? जी नहीं, आज-कल उतना ही परोसना चाहिए जितने से मेहमान उँगलियाँ चाटता हुआ उठे। कम से कम इस मामले में मैं परम्परावादी नहीं हूँ —या यों कह लीजिए कि अपनी पसन्द की परम्परा से जुड़ना चाहता हूँ।"

कुट्टिजात-विनोदेन–२

उत्तर भारत का हर लेखक यानी हिन्दी-लेखक एक अजूबा होता है। लेकिन उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जब दक्षिण की सदभावना यात्रा पर आये थे तब उन्होने अपने सद्भावना-प्रसार के दौरान एकाधिक बार कहा कि "आप लोग हमें ही अजूबा मानते हैं ? तब आप ज़रा 'अज्ञेय' से मिलिए—उन्हें तो हम भी एक अजूबा मानते हैं।" तब से कौतूहल था जो इस बात से और बढ़ गया कि मोहन 'राकेश' से उन के बारे में पूछने पर उन्होने कहा : "बात तो ठीक है—न मालूम अश्क कैसे एक फ़ैक्ट सही बयान कर गया। पर ठहरिए, एड्वाइस उस की ठीक नहीं है—क्यों कि अज्ञेय से मिलने की राय मैं नहीं देता। वह अजूबा ज़रूर है, पर मीट करने लायक हरगिज़ नहीं—बल्कि उस से मिला तो जा ही नहीं सकता। मिलना तो मेरे जैसे यारबाश आदमी से चाहिए।"

इस लिए केरल में भारतीय लेखक सम्मेलन के लिए जब वह इधर आये तो उन से मिलने उद्योगमंडल जा पहुँचा। वहाँ पहुँचा तो पता लगा वह घूमने कोचिन गये हैं; कोचिन में पूछ-ताछ कर निराश हो कर समुद्र की ओर घूमने चला गया तो देखा, एक 'द्रुह की ओट' काठ-चम्पे के झाड़ के नीचे बैठे रेती में सीपियाँ खोज रहे हैं—अज्ञेय। अपने को सफल मान मैं उन के समीप जा कर रेती में बैठ गया।

यह समझ कर कि मैं काठचम्पे की छाया का साझा करने आ बैठा हूँ, वह सारी छाया मेरे लिए छोड़ कर दूर जा बैठे और फिर सीपियाँ बटोरने लगे। जैसे किसी दूसरे का सामीप्य उन्हें पसन्द नहीं था।

मैं थोड़ा अप्रतिभ तो हुआ, पर साहस कर के फिर उन के पास चला गया। ग़लतफ़हमी बढ़े नहीं, इस ख़्याल से मैं ने कहा : "अज्ञेय जी, मैं तो आप ही के पास आया था।"

उन्होने हाथ से सीपियाँ गिर जाने दीं, विस्मय दिखाते हुए कहा, "मेरे ?" और एक बार चारों ओर नज़र दौड़ायी मानों कह रहे हों, सागर, सिकता, लहरें, सीपियाँ, काठचम्पे—इतना सब रहते हुए भी आप आये हैं मेरे पास ?

फिर वह बोले, "कहिए ?"

मैं ने जाड़े में ठंडे पानी में छलाँग लगाने के-से भाव से कहा, "अज्ञेय जी, आप को हिन्दी जगत् एक अजूबा क्यों मानता है ?"

वह मुस्करा दिये। एक सीपी उठा कर उसे घुमा-फिरा कर देखते हुए बोले, "क्यों मानता है, यह तो आप हिन्दी जगत् से पूछिए, मैं कैसे बता सकता हूँ ? मैं तो यही बता सकता हूँ कि मैं क्या मानता हूँ—और उस के बारे में भी यह चेतावनी आप को अवश्य दूँगा कि लेखक अपने बारे में जो बताये उस पर विश्वास कभी मत कीजिए—उस की रचना जो बताये उसी को प्रमाण मानिए।" फिर मानों मुझ पर अनुकम्पा दिखाने के भाव से बोले, "यों शायद हिन्दी जगत् ठीक ही मानता है : अजूबा तो हूँ।"

"राष्ट्रभाषा के बारे में आप की क्या राय है ?"

"देखिए, मैं तो लेखक हूँ न ? मुझे हिन्दी से प्रेम है, राष्ट्रभाषा में मेरी दिलचस्पी नहीं है।"

"तो आप हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं मानते ?"

"मेरे लिए वह प्रश्न बेमानी है। हिन्दी लिखता-बोलता हूँ, उस में

मेरी रुचि है। और भी जिन भाषाओं में साहित्य लिखा-पढा है—देशी या विदेशी—उन में भी मेरी रुचि है। जिन बोलियों में लोगों का सहज जीवन अभिव्यक्ति पाता है उन में भी मेरी रुचि है। यानी जिस-जिस साहित्य में जितनी रुचि है उस-उस की भाषा में भी उतनी ही। जिस साहित्य के बारे में कुछ नहीं जानता, उस में रुचि है यह कहना तो सही न होगा : हाँ, कौतूहल का दावा कर सकता हूँ।"

"हम तो समझते थे राष्ट्रभाषा-राजभाषा के सवाल में आप की बड़ी दिलचस्पी होगी।"

"सवाल में दिलचस्पी और चीज है—उस में दिलचस्पी मुझे भी हैं, पर राजभाषा में क्यों हो? मुझे राज चलाना नहीं है। और राज मुझे चलाये इस में मदद मैं दूँ, ऐसी कोई लाचारी मैं नहीं देखता। सच बात है कि मैं प्रवृत्ति से अराजकतावादी हूँ—राज का जोर जितना मुझ पर से हट जाय, राज की जरूरत जितनी कम महसूस करूँ, उतना ही अपने को भाग्यवान् समझूँगा।"

"पर हमारे दक्षिण में तो हिन्दी की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की बड़ी चर्चा है।"

"सुनिए, आप को इस साम्राज्यवाद के हौए की एक बात सुनाऊँ। कोई सोलह-सत्रह वर्ष पुरानी बात है। मैं दक्षिण में घूमता हुआ कोट्रालम् गया था। ज्ञात हुआ कि रामस्वामी नायकर वहीं हैं; एक मित्र ने पूछा कि क्या उन से मिलना चाहूँगा—तमिल के बड़े विद्वान हैं और भाषा-प्रेमी हैं। मैं ने हामी भर दी। पन रामस्वामी नायकर एक हिन्दी लेखक से मिलने को तैयार नहीं हुए—उन का कहना था कि वह 'किसी उत्तरी साम्राज्यवादी से मिलना नही चाहते।' जो मित्र यह जवाब लाये थे कुछ सकुचित थे, पर नायकर का जवाब तो नायकर का जवाब था, उस का वह क्या करते? अपनी ओर से इस मनोवृत्ति की चर्चा करने को तैयार थे।

"मैं ने पूछा, 'आप बताइये कि उत्तर का साम्राज्यवाद कहीं है और

साम्राज्य कहीं है ? केन्द्र में शासन के शिखर पर अभी तक दक्षिणी बैठा रहा । देश-रक्षा दक्षिणी के ज़िम्मे है । विदेश नीति को दक्षिणी चौपट कर रहा है । वित्त और व्यापार आप का है । शिक्षामन्त्री आप का नहीं तो कम से कम हिन्दी का समर्थक तो नही माना जाता । फिर कहाँ का साम्राज्य और कैसा साम्राज्यवाद ?'

"उन्होंने कहा, 'मै थोड़े हीं कह रहा हूँ । पर जो कहते हैं वे तो निरे शासन की नहीं, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की बात करेंगे । नायकर भी ऐसा ही सोचते हैं शायद ।'

"मैं ने हँस कर कहा, 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ? जो शंकराचार्य भारत-दिग्विजय करने गये थे वह आप के दक्षिण के थे । अब भी हमारे सब से उत्तरी तीर्थ बदरीनाथ पर आप का राज्य है । हमारे इतिहास का सब से बड़ा सांस्कृतिक आन्दोलन भक्ति का था, वह दक्षिण से फैला । धर्म-ग्रन्थों में वेदों को आज कोई पढ़ता नहीं, जो पढ़ते हैं वे जितना काशी को प्रमाण मानते हैं उतना ही कांची को भी । **विष्णु पुराण** और **भागवत पुराण** दोनों आप के हैं । वैष्णव मत भी आप का, शिव भी आप का : चित भी और पट भी । रह गये शाक्त— सो उस सम्प्रदाय में और जिस का हाथ हो हिन्दी उत्तर भारत का तो नहीं है । पूर्व का कहिए तो वे भाषा-क्षेत्र आपके साथ हैं, आप के साथ नहीं तो उत्तर भारत के विरुद्ध तो हैं ही और वे भी उत्तर के साम्राज्यवाद की बात करते हैं । और कुछ देन कश्मीर की है सो कश्मीर का हाल आप जानते ही हैं । ये सब उत्तर के साम्राज्य के लक्षण हैं, या कि दक्षिण की घुसपैठ के ? क्या हमें भी 'दक्षिणी इनफ़िल्ट्रेशन' का डरौना अपनी खेती में खड़ा करना होगा ?' "

अज्ञेय थोड़ी देर चुप रहे । फिर उन्होंने कहा, "सुनाने की बात तो इतनी ही थी । यों बात-बात में यह बात भी उठी थी कि उन का नाम रामस्वामी नायकर कैसे हुआ : न 'राम' तमिल का शब्द, न 'स्वामी', न 'नायक', (बाक़ी तमिल की रह गयी सिर्फ़ 'अर' ।)

क्या संस्कृत का यह राज्य साम्राज्यवाद नहीं हुआ ? मैं ने इतना ही कहा था कि उन का नाम मैं ने तो नहीं रखा, न किसी हिन्दी वाले ने। बल्कि अब तो हिन्दी में भी ऐसे बहुत मिल जायेंगे जो संस्कृत के विरोधी हैं।"

मैं ने पूछा, "आप की क्या राय है ?"

वह बोले, "आप ने मुझे अजूबा कहा न ? हिन्दी के बहुत-से लोग तो मुझ से इसी लिए नाराज़ हैं कि मैं हिन्दी पर संस्कृत का साम्राज्य चाहता हूँ। समझे आप—हिन्दी के लिए मैं हिन्दी-विरोधी हूँ क्यों कि हिन्दी लिखता हूँ।"

मैं ने कहा, "नायकर को यह मालूम होता तो शायद आपसे खुद मिलने आतें—"

"या क्या जाने, वही हिन्दी के समर्थक हो जाते।" कह कर अज्ञेय हँस दिये।

मैं ने कहा, "तमिल वालों को इस का गर्व है कि उन की भाषा एक हज़ार साल से बिल्कुल ज्यों की त्यों है, जब कि और सब भारतीय भाषाओं की कुल विकास-परम्परा ही हज़ार साल से कम की है।"

अज्ञेय : "तो अगर तर्क को उलट कर कहें कि जितने अर्से में और जगह एक समूची भाषा बन कर खड़ी हो गयी उतने में तमिल ने कुछ नये शब्दों या प्रयोगों का भी आविष्कार नहीं किया—तो ? यों यह बात है बिल्कुल ग़लत, क्यों कि बताइये, तमिल अगर कहीं से कुछ ग्रहण न करती तो यह नाम 'रामस्वामी' आता कहाँ से ?"

मैं ने हँस कर उत्तर दिया "नाम तो उत्तरी साम्राज्यवाद से आया न। ऐसे आयात को छोड़ दें तो—"

"यानी जो बदला उस को छोड़ दें तो बाक़ी बिल्कुल नहीं बदला। जी हाँ, यह तर्क तो बिल्कुल नीरन्ध्र है, अभेद्य है। इस तरह संस्कृत के लिए कहा जा सकता है कि जो वैदिक संस्कृत वेदों के ज़माने में थी, वही आज भी वैदिक संस्कृत है। बाक़ी आज जो संस्कृत बोलते हैं थोड़े-

से लोग, वे जो बोलते हैं यह तो बाद की चीज़ है—पर वैदिक संस्कृत जरा भी नहीं बदली। लेकिन इस के अलावा आप यह तो बताइये कि न बदलना भाषा का गुण कब से है? हमारे लिए तो यह तर्क भी हो सकता कि वैदिक संस्कृत भी बदलती रही—पर आप दक्षिण के लिए तो वेदों का प्रमाण मानेंगे नहीं—तो यही कहूँ कि मैं सचमुच देखता कि हज़ार वर्ष में किसी भाषा में कुछ नहीं बदला तो मानता कि हजार वर्ष पहले वह भाषा जड हो गयी थी।"

"तो आप तमिल का दावा ग़लत मानते हैं?"

"मैं यह कैसे कहूँ? उन्हें यही मानना अच्छा लगता है तो मानें। विशेष अर्थ में शायद माना भी जा सकता है—जैसा मैं ने कहा। एक तमिल है जो कभी नहीं बदली; एक तमिल है जो बोली जाती है जिस में बहुत कुछ मिलावट है। कल तक संस्कृत मिला कर हम खुश थे, आज अंग्रेज़ी मिलाना पसन्द करते हैं। पर वह सब तो मिलावट है—बेगाना तत्त्व है। तमिल तो तमिल है—प्यूर टैमिल—जो न कभी बदली न बदल सकती है। अब देखिए न, आज मिलावट के जमाने में सब कुछ मिलावटी होता है; आटे में खड़िया मिट्टी, चीनी में बालू, हलदी में लकड़ी का बुरादा, घी में चरबी—पर असल चीज तो असल चीज़ है। हम खाते रहें चाहे वनस्पति तेल, पर घी तो घी रहेगा—हज़ार क्यों, पाँच हज़ार साल ले घी भी ज्यों का त्यों है, दूध भी—और दूध देने वाली गाय भी। वैसे ही तमिल शुद्ध तमिल है—**टैमिल इज़ प्यूर टैमिल**। यह अन्तिम बात मैं ने आधुनिक शहरी तमिल में कही है। हिन्दी में भी एक आधुनिक शहरी हिन्दी बोली जाती है—बहुत-से एजुकेटेड हिन्दी राइटर्स मॉडर्न हिन्दी स्पीक करते हैं।"

मुझे याद आया कि दो-एक दिन पहले ठीक ऐसी भाषा मोहन राकेश से सुनने को मिली थी। यही मैं ने कहा भी, और साथ कहा कि अश्क प्रायः तो ऐसी नहीं बोलते थे, कभी-कभी तैश में जरूर—

अज्ञेय ने बात काटते हुए कहा, "हाँ, राकेश तो अपने को मॉडर्न

यानी शहरी राइटरों का अगुवा मानते है न। और अश्क के बारे में आप ने ठीक कहा, वह सिर्फ़ तैश में आने पर ही थोड़ी देर के लिए एजुकेटेड हिन्दी राइटर हो जाते हैं।"

मैं ने पूछा, "लेकिन राजभाषा के मसले का होगा क्या ? आप ने कहा कि सवाल में तो आप की दिलचस्पी है, राजभाषा में नहीं, तो ?"

अज्ञेय : "मैं तो समझता हूँ कि अब हड़बड़ी से कोई फ़ायदा नहीं है। पन्द्रह साल पहले सवाल आसानी से हल हो सकता था—यानी और कई सवालो से कम मुश्किल था जिन का हल हम खोज रहे थे। थोड़ी-सी गड़बड़ी होती— पर जहाँ सौ तरह की गड़बड़ी थी वहाँ एक-सौ-एक हो जाने से कोई अलग लक्ष्य भी न करता। अब हम ने समस्या को पन्द्रह गुना बढ़ा लिया है, और उसे हल करने के संकल्प का केवल पन्द्रहवां हिस्सा बाक़ी रह गया। और आदर्शनिष्ठा ? उसे तो देश का विभाजन स्वीकार करने के साथ-साथ अवकाश दे दिया गया था।"

"तो अब करना क्या चाहिए ?"

"शिक्षा का आधार भारतीय भाषाओं को बनाना चाहिए। बुनियादी बात वही है।"

"पर उस से आगे ? जैसे दूसरी भाषा का प्रश्न ? हिन्दी या अंग्रेजी या दोनों की अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न ? क्या आप त्रिभाषा सूत्र के पक्ष में हैं ?"

"पहली बात पहली बात है : यानी प्रदेशों में प्रदेश की भाषाओं की प्रतिष्ठा। उस से आगे ज़रूरी नहीं है कि सीढ़ी-दर-सीढी चला जाये। बल्कि मेरी समझ में तो रस्सी को दोनों सिरों से पकडना चाहिए। दूसरा छोर एक नया त्रिभाषा सूत्र है—मेरा अपना—"

मैं ने उत्सुकता से पूछा, "वह क्या ?"

"सांस्कृतिक भूगोल या जीवन-व्यवस्था की दृष्टि से हमारे अब प्राय: तिकोने देश की तीन भुजाएँ हैं। तीनों प्रदेश-समूहों के भाषा-

समूहों में से एक-एक भाषा ले कर क्या हम नहीं चल सकते ? अगर हम चार द्राविड भाषाओं को कहें कि आपस में तै कर के अपने में से एक को दक्षिण की सामान्य भाषा मान लें, और इसी प्रकार पूर्व की भाषाओं में से भी एक का चुनाव करा लें—उत्तर-पश्चिम हिन्दी-हिन्दुस्तानी पर एकमत हो ही जायेगा—तो इन तीन भाषाओं के सहारे हमारा त्रिभाषा फार्मूला चल सकता है।"

"लेकिन इस से एक भाषा की बात तो फिर भी रास्ते में रह जायेगी।"

"एक भाषा की बात नहीं, हम रास्ते पर आ जायेंगे—एक भाषा के। मैं ने कहा न कि एक भाषा के लिए अब हड़बड़ाना नहीं चाहिए ? मेरे त्रिभाषा सूत्र से एक भाषा न भी हुई तो उधर बहुत प्रगति तो होगी—कई बड़े फ़ायदे हो जायेंगे।"

"कुछ उदाहरण देंगे ऐसे फ़ायदों के ?"

"मसलन् सब से बड़ा फ़ायदा यह कि यह साम्राज्यवाद की बात खत्म हो जायेगी। आप का दक्षिण ही लीजिए : या तो आप चारों में से किसी एक भाषा पर सहमत हो जायेंगे—या नहीं होंगे। हो जायेंगे, तो अगर चार में से एक बिना साम्राज्य माने चुनी जा सकती है तो पन्द्रह में से क्यों नहीं चुनी जा सकती ? लोग सवाल को सही दृष्टि से देख सकेंगे : सब की सुविधा की दृष्टि से।" कुछ रुक कर वह बोले : "या फिर एकमत नहीं होगा। तब फिर आज उत्तर को या हिन्दी को जो गालियाँ दी जाती हैं, उन की बौछार दूसरी ओर मुड़ जायेगी—आप सब एक-दूसरे को साम्राज्यवादी कह कर कोसने लगेंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी : जब सभी सब को साम्राज्यवादी मानने लगेंगे तब फिर से लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा हो जायेगी।"

मैं ने कहा : "यह कैसा लोकतन्त्र ?"

"क्यों, इसी परिभाषा पर तो आज दक्षिण इतना ज़ोर दे रहा है—'सब को समान अवसर' नहीं, 'सब को समान कठिनाई'—

असुविधा का समान वितरण। इस लिए सब को गाली खाने की समान पात्रता और लाचारी।"

मैं थोड़ी देर चुपचाप देखता रहा: क्या अज्ञेय सचमुच यह प्रस्ताव कर रहे हैं या मजाक कर रहे हैं? लेकिन सारा हिन्दी जगत् साक्षी है कि अज्ञेय आभिजात्य उर्फ़ मनहूसियत का वातावरण साथ ले कर चलते हैं—मज़ाक उन के पास नहीं फटकता। वही फिर बोले: "फ़ायदे और भी होगे।"

"क्या?"

"कोई भाषा अपने सिर्फ़ पुरानी होने की दुहाई नही देगी; नयी हो सकने का सामर्थ्य ही अधिक महत्त्व पायेगा। न बदलना गुण नहीं माना जायेगा, बदल सकना गुण होगा। सब आज की ज़रूरतों की कठोर चुनौती का सामना करेंगी—हज़ार साल पहले की सुविधाओं के गुलगुले गलीचों पर पड़ी इतराती न रहेंगी। हज़ार साल पहले के शुद्ध रूप का गर्व बेमानी हो जायेगा। इस से सब भाषाओं को लाभ होगा—कोई राजभाषा बने या न बने। आप बताइये—यह क्या कम लाभ होगा?"

मैं ने नहीं सोचा था कि सवाल मेरी ओर मोड़ दिया जायेगा। अचकचा कर बोला, "हाँ-आँ—"

उन्होंने कहा, "फ़िलहाल इतना हो जाये तो मैं सन्तुष्ट हूँ। आज की आवश्यकताओं की चुनौती का सामना हमारी भाषाएँ करने लगेंगी तो अपने-आप सही रास्ते पर आ जायेंगी। राजभाषा की समस्या हल हो जायेगी।"

हम दोनों थोड़ी देर चुप रहे। फिर अज्ञेय ने कहा, "गणित में आप की रुचि है? मैं ने सुना है, हर दाक्षिणात्य की होती है। रुचि ही नहीं, प्रतिभा।"

मैं ने विनय दिखाते हुए कहा, "रुचि तो है।"

"असल में भाषा की समस्या का हल गणित से मिल सकता है।"

"वह कैसे ?"

"अब देखिये : मान लीजिए एक भाषा कहती है, हज़ार साल में हम में ज़रा भी परिवर्तन नहीं आया। हम आज भी ठीक वही हैं जो हज़ार साल पहले थे। इस बात को गणित की भाषा मे कहे तो यह समीकरण बना :

भा=**भा**+१०००

बना न ?"

मैं ने पूछा, "आगे बताइये।"

अज्ञेय ने एक सीपी से सामने रेती पर लिखते हुए कहा : "अब इस का हम विस्तार कर सकते हैं :

यदि **भा**=**भा**+१०००
तो **भा**= (**भा**+१०००)+१०००
अत: **भा**= (**भा**+१०००+१०००)+१०००+...
यों ∞ तक

हो गया न ?"

"हाँ, समीकरण में पहला पद यदि ठीक है तो आगे सब सिद्ध होता है।"

"सिद्ध होता है। इस का अर्थ क्या हुआ ? कि **भा** ही एक मात्र सत्य है, बाकी १०००+१०००+१००० का अनन्त तक योग सब सिफ़र है। यानी एक **भा** यथार्थ है तो बाकी सब संख्या अर्थहीन है, शून्य है। अब इस का फिर साधारण भाषा में अनुवाद करें तो मतलब हुआ कि भारत की पचास-साठ-सत्तर करोड़ जनसंख्या तो शून्य है, अस्तित्व ही नहीं रखती, और एक भाषा एक आत्यन्तिक और स्वयं-सिद्ध सच्चाई है।"

मैं ने कहा, "अज्ञेय जी, ऐसा तर्क आप को शोभा नहीं देता।

पहले समीकरण में १००० एक हज़ार वर्ष के लिए था, एक हज़ार जनसंख्या के लिए नहीं। समीकरण की कोटियाँ यों बदली नहीं जा सकती।"

अज्ञेय ने विचलित हुए बिना कहा, "आप यह कहना चाहते है कि १०००+१०००+१००० वर्षों का योग अर्थहीन सिद्ध हो जाना आप मान लेंगे, पर यह नहीं मानेंगे कि इतनी जनसख्या का योग अर्थहीन है। यही न ?"

मैं ने सिर हिलाया।

"यानी आप के लिए समय अर्थहीन हो जाने से भी मानव अर्थ-हीन नहीं हुआ। मेरे लिए दोनों एक ही बात हैं। जिस के अस्तित्व के दो आयाम हम ने माने—देश और काल—उस का एक आयाम उड़ा देने से भी वह वही रहेगा यह मैं नहीं मान सकता। काल का आयाम अर्थहीन सिद्ध होने से भी मनुष्य के अनस्तित्व की प्रतिज्ञा हो जाती है।"

मैं ने आपत्ति करते हुए कहा, "वह हो जाती होगी, पर आप के गणित के समीकरण से तो वह नहीं निकलता न।"

"क्यों नहीं : वह समीकरण बीज-गणित का था, यह परिणाम रेखागणित का है। दोनों गणित। और आप कहें कि एक विधा से दूसरी विधा में नहीं जा सकते तो कहना होगा कि आप आधुनिक साहित्यकार नही हो सकते, और चाहे जो हो जायें। बल्कि किसी भी कला के कलाकार नहीं हो सकते—क्यों कि आजकल तो दूसरी विधा में जाये बिना पहली बिधा ही नहीं बनती—यानी विधान्तर ही विधा है।"

मैं ने हताश हो कर कहा, "अज्ञेय जी, इस तर्क से तो विषयान्तर ही विषय होगा।"

अज्ञेय खुल कर हँसे (अश्क जी कृपया नोट कर लें)। बोले, "चलिए, यहाँ आ कर हम-आप एक हो गये। इसी को हमारी-आप की

भेंट कहा जाये ?"

मैं ने मन ही मन सोचा, "भेंट तो यह किसी पत्र-पत्रिका की होगी —" और यह भाव मेरे चेहरे पर भी आ गया होगा, पर तब तक अँधेरा उमड़ कर रेती पर छा गया था और सागर की ओर बढ़ने लगा था, इस लिए हम लौट आये।

(मैं ने यह इंटरव्यू अपनी तत्कालीन टीप के आधार पर लिखा है। टीप और इस लेख में दो वर्ष से अधिक का अन्तराल है, फिर इसे अज्ञेय से दुबारा प्रमाणित भी नहीं कराया गया; पर मेरा विश्वास है कि यहाँ उन से कहलायी गयी बातों का वह प्रतिवाद नहीं करेंगे।)*

---

*'कुट्टिचातन्' को इस पा० टि० पर 'अज्ञेय' की पा० पा० टि० भी कदाचित् अपेक्षित है। दोनों १९६७-'६८ की कृतियाँ हैं और तभी घटित हुईं (आत्मानुभूत और आत्मघटित में भेद अज्ञेय १९३९ से करते आये हैं, दे० 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका)। तब तक 'कुट्टिचातन्' और 'अज्ञेय' का घनिष्ठ सम्बन्ध सर्व-विदित नहीं था; अनन्तर वह स्वीकार कर लिया गया—कुट्टिजात यक्ष की पहचान हो गयी। एक भले ही विकारक मुकुर में देखा गया यह आत्म-बिम्ब भी आत्म-साक्षात्कार का एक प्रकार माना जायेगा और पाठक के लिए रोचक होगा, यह आशा ही इस के यहाँ दिये जाने का कारण है।

लेखक के चारों ओर

अपने चारों ओर की ज़िन्दगी से, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, आप अपने को कहाँ तक जुड़ा हुआ या अकेला पाते हैं? — साहित्यिक स्तर पर भी और व्यक्तिगत स्तर पर भी। साथ ही, क्या कुछ बातें हैं जिन का दबाव आज के लेखन पर पड़ रहा है ?

यह प्रश्न या तो अर्थहीन है, या फिर बहुत लम्बी परिभाषा माँगता है। चारों ओर की ज़िन्दगी, अच्छी, बुरी, जुड़ा हुआ, अकेला, दबाव, लेखन—ये सभी शब्द ऐसे हैं कि इन की परिभाषा होनी चाहिए। नहीं तो बिल्कुल सम्भव है कि मेरे उत्तर का आप के प्रश्न से कोई सम्बन्ध न हो। बल्कि साहित्यिक स्तर और व्यक्तिगत स्तर की बात आप जब उठाते हैं तब समस्या और भी उलझ जाती है।

ऐसा कुछ भी क्यों है जिसका दबाव मुझ पर या मेरे लेखन पर नहीं पड़ रहा है—मेरा जाना हुआ कुछ भी ? बल्कि मेरे अनजान में तो मुझ पर तरह-तरह के दबाव पड़ सकते हैं।

मेरे आसपास जो कुछ घटित होता है उस से मैं अभिन्न रूप से

---

*श्री रघुवीर सहाय द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रश्नों का लिखित उत्तर।

जुड़ा हुआ हूँ। जुड़ा हुआ हूँ और पहचानता हूँ कि जुड़ा हुआ हूँ, यही मुझे अकेला करता है। इसी दोहरे अर्थ में कृतिकार सामाजिक भी होता है और अकेला भी। जो अपने परिवेश से जुडे हुए नहीं हैं और उस सम्बन्ध को और उस की दुखन को पहचाते नहीं हैं, उन्हें अकेला होने की ज़रूरत भी क्यों होनी चाहिए ?

नवस्वतन्त्र विकासोन्मुख देशों के 'बदलते स्वरूप का समकालीन साहित्य-सृजन (मुख्यत: कथा-साहित्य) पर क्या कोई सीधा असर पड़ रहा है, और क्या इस के फल स्वरूप साहित्य में कुछ विशिष्ट परिवर्तन आ रहे हैं ?

परिषाभा वाली बात यहाँ भी लागू होती है। क्या नवस्वतन्त्र देश ही बदल रहे हैं ? क्या विकासोन्मुख देश ही बदल रहे हैं ? कौन-सा देश है जो विकासोन्मुख नहीं है ? सीधा असर कैसा ? असर है तो सीधा क्यों नहीं ? साहित्य में परिवर्तन क्या होता है ? क्या कोई भी एक रचना किसी भी दूसरी रचना से भिन्न नहीं होती और अगर एक रचना दूसरी के बाद हुई तो क्या परिवर्तन नहीं हुआ ?(यहाँ मैं रचना की बात कर रहा हूँ, निरी अनुकृति की बात नहीं।) हर कृतिकार नया कुछ लिखता ही नहीं है, परम्परा को नया सन्दर्भ भी देता है।

कथा-साहित्य में अलग-अलग देशों में कुछ अलग-अलग प्रवृत्तियाँ दिखती हैं और कुछ सब में समान हैं। हमारे देश में कथा-साहित्य यानी कहानी-साहित्य को ले कर जो आन्दोलन हो रहे हैं उन में जो कुछ कहा जा रहा है उस का अस्सी प्रतिशत कहानी से या साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखता; कथाकारो से और साहित्यकारों के आजीविकापक्ष से ही अधिक सम्बन्ध रखता है।

एक आन्दोलन 'शहर बनाम अंचल' का था। उस का और व्यौरा दे कर उसे 'महानगर बनाम कस्बा' और 'कस्बा बनाम देहात' का रूप भी दिया जा सकता है और दिया गया। इन मुकद्दमों में निर्णायक

वही हो सकता जो सभी पक्षों को जानता हो। वैसा निर्णायक हिन्दी में नहीं है। केवल वकील हैं और वकील का काम ही है पक्षधर होना। मुकद्दमे के बाहर रहते हुए एक दर्शक के नाते कहूँ तो मुझे लगता है कि शहरी पक्ष और उस से भी अधिक महानगर पक्ष के वकील शोर अधिक मचाते है; पक्ष उन का अभी उतना प्रबल नहीं है। (शायद हमेशा ही ऐसा होता है कि दुर्बल पक्ष का वकील ज़्यादा ज़ोर से बहस करता है।) पूरा महानगर अभी भारत में है भी नहीं; कलकत्ता और बम्बई वैसा रूप ग्रहण करते जा रहे हैं लेकिन अभी वहाँ नहीं पहुँचे हैं कि न्यूयार्क या लन्दन या पैरिस के सामाजिक जीवन या व्यक्ति-मनोविज्ञान को ज्यों का त्यों इन नगरों पर चस्पाँ कर दिया जाये। और दिल्ली तो अभी महानगरी नहीं बनी है; बल्कि अभी तक नगरी का चरित्र भी उसे प्राप्त नहीं हुआ है। पुरानी दिल्ली एक शहर था और उस की एक संस्कृति थी; नयी दिल्ली का अभी उतना विकास नहीं हुआ है। राजधानी है और आधुनिक संसार की बड़ी और महत्वपूर्ण राजधानियों में से एक है, इस लिए इस का एक विशिष्ट चरित्र बन अवश्य जायेगा; लेकिन अभी नहीं बना है।

और महानगर का जीवन केवल महानगर के जीवन की विकृतियाँ नही है। अभी तक तो कॉस्मोपॉलिटन होने की दुहाई देने वाले केवल विकृतियाँ देख रहे हैं, जीवन नहीं देख रहे हैं। मानों विकृतियाँ देख कर वे यह आभास देना चाहते हैं कि वे उस से ऊपर उठ गये हैं। लेकिन सच बात तो यह है कि उन का विकृतियो से भी परिचय नहीं है; विदेशी साहित्यों में पाये गये वर्णन के आधार पर वे वैसा लिखते हैं।

विचार कर के देखें तो यह बात मैं उन की प्रशंसा में ही कह रहा हूँ कि उन विकृतियों से उन का निजी परिचय नहीं है। या यों कह लीजिए कि मैं उन्हें भाग्यवान् समझता हूँ कि जो वे लिख रहे हैं वह उन के अनुभव में अभी नहीं आया है!

आज के कथा-साहित्य में क्या आप को कोई नया व्यक्ति या चरित्र प्रवेश करता दिखाई पड़ रहा है ? यदि हाँ, तो इस का आकार-प्रकार (या 'शेप') क्या है अथवा कैसा होता नज़र आ रहा है ?

इस का जितना उत्तर मैं यहाँ दे सकता हूँ वह ऊपर के प्रश्न के उत्तर में ही आ गया है। यों इतना और जोड़ सकता हूँ कि कविता में भी और उपन्यास में भी एक नया चरित्र उभरता तो दीखता है, पर अभी उस का कोई स्पष्ट **'प्रोटोटाइप'** या दृष्टान्त-पुरुष एक रचना में नहीं मिलेगा जिस का नाम ले कर बात स्पष्ट कर दी जा सके। वह यथार्थवादी है, ज़मीन पर पैर जमा कर चलता है, कुढ़ता और बौखलाता हुआ जीता है पर बौखलाहट उस की दृष्टि को धुँधला नहीं देती। उसे अनिच्छुक आशावादी कहा जाये, या अनिच्छुक निराशावादी, यह अभी स्पष्ट नहीं। यह भी हो सकता है कि वह अभी अनिच्छुक यथार्थवादी ही है—क्यों कि कोई स्पष्ट धारणात्मक कर्म-प्रेरणा प्रायः उस में नहीं पायी जाती। कुछ करने की व्याकुलता-भर से नहीं, जब वह कुछ करने लगेगा तभी उस की आकृति या 'शेप' स्पष्ट दीखेगी।

परम्परा, प्रभाव, प्रक्रिया

(क) हिन्दी और आधुनिकता

आधुनिकता के लोगों ने अलग-अलग अनेक अर्थ किये हैं। मेरी दृष्टि में आधुनिकता एक अनगढ़ चीज़ है। वह एक सिद्ध स्थिति नहीं, एक प्रक्रिया है। संस्कारवान् होने की क्रिया को ही मैं आधुनिकता मानता हूँ। जो संस्कारी हो चुका है और अब स्थिर है वह मेरी दृष्टि में आधुनिक नहीं है।

आधुनिकता की दृष्टि से सब से पहले मैं हिन्दी भाषा पर विचार करना चाहूँगा, क्यों कि यह आज का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मेरी दृष्टि में हिन्दी सदा से आधुनिक रही है। सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सारा क्षेत्र हिन्दी का है चाहे आज उन के दोनों छोर देश से बाहर चले गये हैं। यह देश भाषाओं और संस्कृतियो के संगमों का देश है। हिन्दी उन संगमों से ही विकसित हुई है। अतः वह संगमों की भाषा है, विद्रोहों की भाषा है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति को बनाये रखा, भारतीयता के बोध को जीवित रखा। युद्ध होते रहे, फिर भी भारतीय संस्कृति नाम की एक चीज आगे बढ़ती रही। हिन्दी उस की

*राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा बीकानेर में आयोजित उपनिपद् में उठायें गए कुछ प्रश्नों पर टिप्पणियां।

भाषा रही। हिन्दी प्रदेश से प्रवृत्तियाँ उठीं और सारे देश में फैलीं। दूसरे भाषा-क्षेत्रों में भी जो प्रसारणीय हुआ वह हिन्दी में आया और हिन्दी से छन कर वितरित हुआ। किसी दूसरी भाषा ने यह काम नहीं किया। हिन्दी अब भी यह कार्य कर रही है। १९ वीं सदी से पहले हम हिन्दी के माध्यम से ही भारतीयता को पहचानते थे। आज़ादी की आकांक्षा इसी भाषा के माध्यम से विकसित हुई—बांग्ला में उस के उदय के बावजूद। राजधानी के रूप में कलकत्ता की प्रतिष्ठा के कारण स्थिति थोड़ा बदली। पश्चिम के प्रभाव राजधानी कलकत्ता और मुख्य सागर-व्यापार-केन्द्र बम्बई से आते रहने के कारण भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक उत्स मध्य देश न रह कर दिल्ली-कलकत्ता-बम्बई का त्रिकोण बना। पर हिन्दी फिर राष्ट्रीयता के स्वर की मुख्य वाहिका बनी; उठते हुए देशव्यापी आन्दोलन की भाषा बनी। यह भाषा खड़ी बोली थी अर्थात् संस्कारी बनने के लिए निरन्तर सचेष्ट हिन्दी। (अच्छी संस्कारी हिन्दी बोलने वाले पहले भी कम थे और आज भी कम हैं।) इस प्रकार हिन्दी विकासमान संस्कारों और पनपते विद्रोहों की भाषा रही है। यह किसी क्षेत्र की साम्प्रदायिक भाषा नहीं रही। कभी आगरा-मथुरा को, कभी कलकत्ता-बम्बई को और कभी दिल्ली को केन्द्र बना कर वह सारे देश के संस्कारों और परिवर्तनों का नेतृत्व करती रही है। आधुनिकता का संस्कार सदा इस के साथ रहा है।

आधुनिकता के साथ हिन्दी को जोड़े रखने के लिए काशी ने उस के उत्तरदायित्व को जब पहचाना तो वहाँ से उस का नये सिरे से उदय हुआ। खड़ी बोली हिन्दी काशी की भाषा नहीं थी, पर काशी में भारतीयता की जो चेतना जाग रही थी उस की वाहिका यही हो सकती थी। इसी से आधुनिकता की नयी चेतना उस में आयी। अब भी वह उस चेतना को वहन कर रही है। मैं इसी अर्थ में उसे आधुनिकता का गौरव और राष्ट्र-भाषा की प्रतिष्ठा देना चाहता हूँ।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए क़ानून का आश्रय मैं ज़रूरी नहीं मानता। हिन्दी कभी कानून से आगे नहीं बढ़ेगी। इस में आधुनिकता और भारतीयता के जो संस्कार हैं वे ही इसे आगे बढ़ायेंगे। आज राष्ट्रभाषा पर ज़ोर देने की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी ज़रूरत एक लिपि पर ज़ोर देने की है। अगर आज देवनागरी लिपि को सारा देश स्वीकार कर ले तो हिन्दी की व्यापकता स्वतः स्वीकार कर ली जायेगी। हिन्दी का यह परम्परागत उत्तरदायित्व है कि वह जिस अर्थ में आधुनिक थी, उसी अर्थ में आधुनिक बनी रहे। उसे निरन्तर संस्कारवान् होते रहने की अपनी प्रवृत्ति को नहीं त्यागना है। यदि वह ऐसा करती रही तो कोई भी शक्ति उस का मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सकती।

(ख) आधुनिक काव्य-बोध

अब यह बताना आवश्यक नहीं रह गया कि हिन्दी में आज जो काव्य लिखा जा रहा है, उस में और पहले जो काव्य लिखा जा चुका है उस में बहुत अन्तर है। यहाँ प्रश्न अच्छे या बुरे का नहीं होना चाहिए। आज हिन्दी में तथा देश की अन्य भाषाओं में भी जो कुछ लिखा जा रहा है उस पर पश्चिम का पर्याप्त प्रभाव है। प्रभाव हमेशा रहे हैं, हम सदा बाहरी प्रभावों को ग्रहण करते रहे हैं। किन्तु प्रभाव का अर्थ नक़ल नहीं है। हम बाहरी सम्बन्ध व प्रभाव को न चाहें किन्तु रोक नहीं सकते। पश्चिम हमारे साथ है और रहेगा। जो साथ है, उस का प्रभाव अवश्य आयेगा। उसे हम ग्रहण भी करेंगे—क्यों न करें? पर नक़ल नहीं करेंगे। या जो नक़ल होगी उस का तिरस्कार करेंगे।—प्रभाव का एक पहलू और है। हमारी परम्परा में बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जो हमारी थीं, हमारी हैं, पर जिन्हें हम भूल गये थे। पश्चिम के सम्बन्ध से हमें उन का स्मरण हुआ और हमें बोध हुआ कि वे हमारे पास पहले से चली आ रही हैं यद्यपि हमारे ध्यान से उतर गयी थीं।

उदाहरणार्थ बुद्ध हमारे थे; उन की देन सदियों से हमारी थी। पर हम उसे भूल-से गये थे। जब हमें याद दिलायी गयी कि हम से पूर्व के देशों के बौद्ध और हम भाई-भाई हैं, तब हमें अपनी संस्कृति के विस्तार का बोध हुआ और उस के माध्यम से हम ने आधुनिकता का एक और अध्याय पार किया। एक अन्य उदाहरण कालिदास का है। कालिदास को हम भूले कभी नहीं; बराबर पढ़ते रहे, पर उन गुणों को नहीं देखते रहे जिन की ओर पश्चिम की आलोचना के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ। पश्चिम का पाठक जब कालिदास से परिचित हुआ, उन के ग्रन्थों के अनुवाद वहाँ पहुँचे और उन की चर्चा वहाँ हुई, तब वहाँ से कालिदास का और उन के माध्यम से भारतीय संस्कृति का एक नया ही रूप स्वयं हमारे सामने आया। यह भी हुआ कि पश्चिम ने ग़लत समझ कर गलत प्रभाव ग्रहण किया, पर समझ ही ग़लत होती है, या अन्धी नक़ल ग़लत होती है; प्रभाव भिन्न होने से ही 'ग़लत' नहीं होते—केवल ग्रहण करने वाले की भिन्न प्रतिभा या संस्कार का संकेत करते हैं। पश्चिम में अमरुक, कालिदास और उपनिषदों की खिचड़ी का प्रभाव दीखा—रोमांटिक आन्दोलन में। समझ ग़लत रही हो, परिणाम में इतना दम था कि हम फिर उस से प्रभावित हुए। बल्कि यूरोपीय रोमांटिको को पढ़ने के बाद हम ने कालिदास को फिर पढ़ा तो उन्हें एक नये रूप में पह-चाना; और फिर पश्चिम का रोमांटिक आन्दोलन हमें एक नये ढंग से अपना-सा लगा। एक नये ढंग से ग्रीक मूर्तिकला के परिचय से हमारी गान्धार शैली में जो विशेषताएँ प्रकट हुईं, वे यूनानियों के लिए उतनी ही अकल्पित रही होंगी। पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धों और प्रभावों का प्रतिफलन दोनों पक्षों के लिए अप्रत्याशित और हितकर भी रहा है—जैसे दोनों तरफ़ निरी नक़ल भी होती रही है।

पश्चिम से हम प्रभावित ही नहीं हुए हम ने उन्हें प्रभावित भी किया है। प्रतीकवाद और बिम्बवाद के यूरोपीय आन्दोलनों के मूल

स्रोतों का अध्ययन इस का पूरा प्रमाण दे सकता है। हमारे जिस काव्य में बहुत-से अध्यापक आलोचकों को सिर्फ़ 'पश्चिम की नक़ल' दीखती है, अनूदित हो कर वह पश्चिम में अपनी 'ताज़गी' के लिए सम्मान पाता है !

काव्य-बोध से आधुनिकता का सम्बन्ध इस सन्दर्भ में सरलता से समझा जा सकता है। आधुनिकता और भारतीयता में कोई बुनियादी विरोध नहीं है; आधुनिक होने का अर्थ यह नहीं है कि हम भारतीय बिल्कुल न रहें और पश्चिम की नक़ल करें। हम विश्व में और भारत में बदलती हुई परिस्थिति को पहचानें; तटस्थ होकर नयी स्थिति की छाप ग्रहण करें—मिटें नही, नये संस्कारी हो। अगर यह नहीं होता तो हम आधुनिक नहीं हैं।

(ग) अच्छी नयी कविता और भाषा की संकरता

आज जो कविता हिन्दी में लिखी जा रही है, उस के विषय में दो-प्रश्न अधिक उठाये जाते हैं। पहला प्रश्न है: 'अच्छी नयी कविता की पहचान क्या है ?'—दूसरा प्रश्न है 'नयी कविता में प्रयुक्त भाषा में संकरता का औचित्य क्या है ?'

कविता को समझने, परखने, उस का मूल्यांकन करने के लिए कविता से चार प्रश्नों का उत्तर जानना चाहिए :—

१. कवि ने क्या करना चाहा है ?
२. वैसा उसने क्यों चाहा है ?
३. अपने उद्देश्य में वह कहां तक सफल हुआ ?
४. जो कुछ कवि ने करना चाहा, वह करने योग्य या महत्त्वपूर्ण था कि नहीं ?

अन्तिम प्रश्न के सही उत्तर की खोज पूरी तटस्थता और ईमानदारी के साथ की जानी चाहिए। प्रथम तीन प्रश्नों का उत्तर ठीक और सन्तोषजनक मिल जाने पर भी यदि चौथे प्रश्न के उत्तर में अनु-

तभी जा सकता है जब हम ने संस्कारी भाषा सीखी हो। पाठक इसके लिए अधिक दोषी हैं। यदि साधारण सामाजिक सावधान हो जाये तो कवि को भी सावधान होना पड़ेगा—उसे समाज में पहुँचना जो है। संकरता का एक औचित्य भी है : कवि उसी भाषा का प्रयोग करता है जिसे वह रोज जीता है। जब हम बोल-चाल में संकर भाषा का प्रयोग करते हैं, सारा समाज संकर भाषा में जीता है, तब कविता में उसे क्यों प्रवेश नहीं मिलेगा ? हमारे जीवन को जो शब्द व्यक्त करेंगे वे ही तो अनिवार्यत: काव्य में आयेंगे। हम अपने अर्थों को रोज़ जिन सन्दर्भों में जीते हैं, उन के साथ अगर हम ने अंग्रेज़ी शब्द जोड़ लिये हैं, तो कविता में उन के बिना काम भी कैसे चलेगा ? या तो कवि उन सन्दर्भों से कट जायेगा, या उन सन्दर्भों से बँधा पाठक कवि से कट जायेगा। ऐसी स्थिति न पैदा हो, यह तभी हो सकता है जब दोनों एक समान संस्कारी साधु भाषा के भागीदार हों।

(घ) ज्ञान-विज्ञान और सृजन-प्रक्रिया

ज्ञान-विज्ञान आदि के सन्दर्भ में रचना-प्रक्रिया को समझने में भी हम भूल करते हैं। रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में केवल रचयिता का पक्ष प्रस्तुत कर के छोड़ देना काफ़ी नहीं है। गृहीता, पाठक या सामाजिक के पक्ष का विचार भी साथ होना चाहिए : क्यों कि रचना-प्रक्रिया सम्प्रेषणीयता की भी सृष्टि करती है। यह ध्यान देने की बात है कि अनुभूति के समय हर अनुभोक्ता के अलग-अलग संस्कार अनुभूति को एक विशिष्ट रंगत दे देते हैं। बीते अनुभवों की स्मृतियाँ, नयी-पुरानी ऐसी अनेक बातें हैं जो गृहीता की अनुभूति का निरूपण, निर्देशन और नियमन करती हैं। क्यों कि किसी एक व्यक्ति के जीवन का संचित अनुभव किसी दूसरे के संचय से सौ प्रतिशत एकरूप नहीं हो सकता, इस लिए एक की अनुभूति दूसरे की अनुभूति पूरी तरह नहीं हो सकती। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने हृदय के जिस इन्द्र-धनुष की

बात की है, वह एकान्त उन्हीं का है। फिर वह लड़की का कैसे हुआ? वह लड़की तक सम्प्रेषित हो, फिर लड़की की अनुभूति का भी विचार हो, तब बात कुछ पूरी हो। कवि केवल कवि के भीतर के घटित की, रचना-प्रक्रिया की बात तक सीमित न रह कर अपने सामने यह प्रश्न रखें कि मेरी अनुभूति गृहीता या सामाजिक की अनुभूति कैसे हो (या हो गयी), तो कवि-कला आगे बढ़ती है। क्यों कि सम्प्रेषण की चुनौती स्वीकार किये बिना जो आगे बढ़ना है, वह कला के क्षेत्र का नहीं है: आत्म-शोध की दिशा में वह हो सकता है और वह आत्म-शोध उच्चतर कला की भूमिका भी हो सकता है पर अपने-आप में वह कला का प्रमाण नहीं है।

लेकिन रचना-प्रक्रिया और सम्प्रेषण की सारी बात ही थोड़ा विषयान्तर है। यद्यपि अनिवार्य विषयान्तर, क्यो कि ये दोनों एक सम्पूर्ण कार्य-व्यापार के दो पहलू हैं—एक आभ्यन्तर अथवा सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला, दूसरा बाह्य अथवा सामाजिक यानी ग्रहण अथवा आस्वादन से सम्बन्ध रखवे वाला। ज्ञान-विज्ञान और रचना-प्रक्रिया का प्रश्न इस से कुछ अलग पड़ता है। क्या ज्ञान-विज्ञान बढ़ने से रचना को इस अर्थ में क्षति पहुँचती है कि हम सचेत हो जाते हैं, उसी का विश्लेषण करने लगते है? नहीं तो क्या उस से लाभ होता है?

निस्सन्देह दोनों सम्भावनाएँ वहाँ हैं। कवि रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण कर के वहीं तक रह जायें तो वह घातक होगा—क्यों कि जो ऊर्जा रचना में लगती वह विश्लेषण में व्यय हो जायेगी और 'मेरे भीतर क्या हो रहा है' इस की पड़ताल में कवि सम्प्रेषण कर्म से विरत हो जायेगा। या वह मान लेगा कि क्यों कि मैं जान गया कि अमुक भाव किस प्रकार मुझ में उदित हुए, इस लिए वे अब सम्प्रेषण के लायक नहीं रहे—पाठक भी जान लेगा कि वे कैसे कहाँ से आये! पर यहीं तक रह जाना तो यन्त्र-प्रक्रिया तक रह जाना है। अवश्य ही पाठक उसे पहचान लेगा, पर यह तो उसे पहचानना भी चाहिए: यह

यन्त्र-प्रक्रिया शिल्प का अंग है जिसे गृहीता को पहचान सकना चाहिए, बल्कि इस पहचान से तो वह कवि के निकटतर आ सकता है। और फिर शिल्पगत आत्म-सजगता का यह परिणाम भी तो हो सकता है कि कवि निरे टोटकों और हल्की चातुरी का सहारा लेने से बचे; स्वर, नाद, शब्द-मैत्री, लय, छन्द-अनुरणन, भणित आदि की गम्भीरतर सम्भावनाओं को पहचाने और उन का उपयोग करे? अगर कवि पाठक से एक डग आगे हो कर सम्प्रेष्य कुछ ला सकता है, तो आत्म-सजग कवि भी शिल्प-सजग पाठक से फिर एक कदम आगे रह कर उसे नया कुछ दे सकता है!

पर यह सारी बात उस स्तर की नहीं है जिस पर रचना होती है। रचना के स्तर पर तो पहचानना चाहिए कि काव्य—या कला—स्वयं एक प्रकार का जानना है—एक ज्ञान है। हम जो रचते हैं उसे हम जानते हैं। बल्कि उसे जानने का न कोई दूसरा साधन है, न कोई दूसरा प्रकार है सिवा उसे रच देने के। काव्य से जो ज्ञान हम पाते हैं, वह किसी दूसरे ज्ञान-विज्ञान से नहीं मिल सकता: इस लिए कोई ज्ञान-विज्ञान उस में बाधक नहीं हो सकता। काव्य-सत्य की कोटि विज्ञान के सत्यो की कोटि से अलग और बाहर है। यह बिल्कुल अलग बात है कि एक कोटि के सत्यों की साधना में हम दूसरी कोटि के प्रति अपने लगाव को शिथिल हो जाने दें—या इस के प्रतिकूल एक कोटि की साधना से व्यक्तित्व का जो विकास हो या गहराई बढ़े उस के सहारे हम दूसरी में प्रवेश पाने के लिए अधिक उत्सुक हो उठें। या कि एक में जो जिज्ञासाएँ अनुत्तरित रह जायें उन्हें ले कर दूसरी की ओर उन्मुख हों। जीवनानुभूति ही काव्य का अथवा कला का क्षेत्र है; अनुभूति-सत्य का ज्ञान काव्य द्वारा ही सम्भव है और वही कवि का सम्प्रेष्य होता है।

वेदों की बात अलग है और अलग रखनी चाहिए। वेद, जैसा कि नाम में निहित है, 'जाना हुआ' है, स्वयंसिद्ध है। पर उसे हम जिस

अर्थ में जाना हुआ कहते हैं, उस अर्थ में कविता का सत्य जाना हुआ या स्वत: प्रमाण नहीं होता। आज की कविता के साथ वेद का उल्लेख करना दोनों को ग़लत सन्दर्भ में रखना है। वेद जहाँ श्रद्धेय हैं वहाँ आज के अर्थ में काव्य नहीं है। काव्य-सत्य न केवल अपौरुषेय नहीं है वरन् नितान्त पौरुषेय होना चाहिए। आधुनिक बुद्धि वेदों के कुछ अंशों को काव्य-दृष्टि से भी देख सकती है और देखती है; पर यह मान लेना भूल होगी कि उन अंशों का भी केवल उतना ही अर्थ था जितना इस प्रकार सामने लाया जाता है। मन्त्र-द्रष्टाओं को हम केवल रचयिता भी मानें तब भी उस अतिरिक्त अर्थ के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। अपौरुषेय में पौरुषेय का भी पाया जा सकना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है; दूसरी ओर काव्य में अपौरुषेय का संकेत भी मिल जाये तो उसे बड़ी बात समझना चाहिए।

तो मैं तो यही मानता हूँ कि ज्ञान-विज्ञान से हमारी क्षमता बढ़ी है; किसी की अगर नहीं बढ़ी तो उस का कारण ज्ञान में नहीं है। उस से कवि-कर्म की जो समस्याएँ जटिलतर हुई हैं उन से डरने की आवश्यकता नहीं है। और अगर यह ज्ञात हो गया है कि अनेक ऐसे तथ्य हैं जो हम नहीं जानते, तो उन्हें और कुछ समय तक अज्ञात रहने दिया जा सकता है—ऐसा कब था कि हमारा अज्ञान बहुत बड़ा नहीं था?

संक्षेप में आज की नयी कविता में अगर कोई तत्त्व ऐसा है जो ज्ञान-विज्ञान के विस्तार और सृजन-प्रक्रिया पर उस के प्रभावों के कारण जटिलतर हो गया है, तो उस में कवि के लिए जितना ख़तरा है उतनी लाभ की सम्भावना भी। ख़तरे देख कर घबराना क्यों? तालियों के भरोसे जीवित रहने वाला सम्मेलनी कवि भी मंच के ख़तरे उठाता है। कोई कवि जटिल और अबोध्य रचना छपा कर पाठक की प्रतिक्रियाओं की सम्पूर्ण अवज्ञा करता है तो उस का दंड भी पाता है। निरी बाहरी प्रतिक्रिया उतना महत्त्व नहीं रखती जितना महत्त्व कवि की अपनी सृजन-प्रक्रिया के प्रति ईमानदारी का है।

(च) व्याख्या की मांग

आजकल कविताओं के साथ कवि से व्याख्या की माँग भी की जाती है। कुछ तो ऐसा उत्सुकता जगाने के लिए किया जाता है; पत्रकारिता या रेडियो के लिए ऐसी चीजें काम की होती हैं। कुछ ऐसा भी समझा जाता है कि व्याख्या में कवि कुछ ऐसी नयी बात बता देगा जिस से कविता पर बहुत प्रकाश पड़ेगा, उसे समझने में मदद मिलेगी। बहुत-से कवि अपनी कविता की व्याख्या करना पसन्द भी करते हैं। मेरी दृष्टि में यह कोई अच्छी बात नहीं है। कविता कविता से ही मिलनी चाहिए; व्याख्या की अपेक्षा उसे नहीं होनी चाहिए। या यों कह लें कि जो कविता से नहीं मिल सकता वह कवि-कृत व्याख्या से पाना (या देना भी) व्यर्थ है (—क्यों कि दूसरों द्वारा व्याख्या की तो उपादेयता होती है), व्याख्या की सुविधा पा कर कवि काव्य की त्रुटियों को दूसरों से छिपा सकता है तो अपने को भी धोखा दे सकता है, या काव्य में ऐसे तत्त्वों की उपस्थिति का दावा कर सकता है जो वास्तव में उस में नहीं हैं।

यों, स्वयं कवि द्वारा व्याख्या की बात छोड़ दें, तो कवि और पाठक के बीच व्याख्या का एक उचित और आवश्यक स्थान है। जिन चार प्रश्नों की बात मैं ने कही है, उन में से पहले दो व्याख्या के क्षेत्र हैं; मूल्यांकन की वह भूमिका है। सामान्यत: ऐसी व्याख्याएँ सहृदय आलोचक या प्राध्यापक वर्ग करता है या उस वर्ग को करनी चाहिए—या ऐसा एक वर्ग कवि और पाठक के बीच रहना चाहिए और उस तक दोनों पक्षों की पहुँच होनी चाहिए। दुर्भाग्यवश आज यह वर्ग प्राय: यह काम नहीं करता : इस काम के योग्य अपने को बनाने का परिश्रम साधारणतया उसे गवारा नहीं होता—या कभी उस के साधन उस के लिए दुर्लभ हो जाते हैं। विश्वविद्यालयों का अध्यापक वर्ग नया कुछ प्राय: नहीं पढ़ता है, इस लिए उस का व्याख्याता हो सकने की स्थिति

में ही नही आता। दूसरी ओर पाठक विशेषतया नया ही पढ़ता है—यह स्वाभाविक (और उचित भी) है कि वह नया और समकालीन पढ़े और उस के मार्ग से होता हुआ ही प्राचीनतर की ओर जाये। फलत: पाठक और अध्यापक के बीच की दूरी घटने की बजाय और बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में लाचारी हो जाती है कि पाठक कवि से व्याख्या चाहे और फिर उस की कसौटी अध्यापक से कराये—जब कि सही स्थिति इस से ठीक उलटी होनी चाहिए: अध्यापक व्याख्या करे और उस व्याख्या की कसौटी कवि-दृष्टि पर हो। पर इस लाचारी को लाचारी ही मानना चाहिए, वह भी साम्प्रतिक लाचारी, वांछनीय स्थिति कभी नहीं समझना चाहिए। कवि को अपनी या समकालीन काव्य की व्याख्या करनी पड़े तो उसे पाठक को सतर्क भी करते रहना चाहिए कि ऐसी ब्याख्या न तो अन्तिम है, न एक मात्र, न उसे मूल्य-निर्धारक माना जाये; कि वह केवल पाठक की सहायता के लिए एक संकेत-भर है।

(छ) शिल्प और लय

मेरी समझ में लय शिल्प का ही एक महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं, काव्य का एक आवश्यक गुण है। लय के बारे में पिछले वर्षों में काफ़ी बे-सिर-पैर की बातें कही गयी हैं, नयी कविता के समर्थकों द्वारा भी और निन्दकों द्वारा भी। मैं नहीं समझता कि नयी कविता ने लय छोड़ी है—यानी जो कविता है उस ने। जो निरा गद्य है उस की बात अलग है, यद्यपि अच्छा गद्य भी लय सम्पन्न होता है – हाँ, गद्य की लय पद्य की लय नहीं होती। लय का विचार करने के लिए नयी कविता ही नहीं, हिन्दी से भी थोड़ा हट कर एक उदाहरण लिया जाय—बांग्ला से। यह हमें पूर्वग्रहों के दबाव से भी बचाये रखेगा और अपने-आप में भी अत्यन्त शिक्षाप्रद उदाहरण है: **माइकेल मधुसूदन दत्त** का। मधुसूदन दत्त आधुनिक बांग्ला काव्य के प्रवर्तक हैं। उन का

जीवनानुभव और उन के काव्य-सम्बन्धी प्रयोग और आविष्कार आधुनिक बांग्ला काव्य के विकास के ही नहीं, आधुनिक भारतीय काव्य के अध्येता के लिए बड़े मूल्यवान् हैं। युवा मधुसूदन का स्वप्न था इंग्लैंड में ख्याति पाने का—इस का कोई विकल्प उनके सम्मुख था तो एक नाम-हीन मृत्यु का !

टु क्रॉस द वास्ट एटलांटिक वेव
फ़ॉर ग्लोरी--ऑर ए नेमलेस ग्रेव !

इसी लिए उन्होंने अंग्रेजी कविता का अभ्यास किया, अन्य यूरोपीय भाषाएँ सीखीं; अंग्रेजी के संस्कार में इतना डूब गये कि जब उन्हें कन्या-लाभ हुआ तो पिता को उस की सूचना एक मित्र से दिलानी पड़ी—क्यों कि यह बांग्ला में कहना उन्हें नहीं आता था ! पर कई यूरोपीय भाषाओं में पारंगत हो कर जब यह कवि भारत लौटा तो उस ने पहचाना कि वास्तव में वह केवल गूँगा बन कर आया है; तब उस ने फिर से बांग्ला का अभ्यास किया और अन्त में उसी का सिद्ध कवि हुआ। बांग्ला तक लौटने का यह वृत्त जीवनी की दृष्टि से तो रोचक ही है, पर लौट कर उन्होंने बांग्ला छन्द से जो किया वह और भी रोचक है। उसी के अध्ययन से हम देखते हैं कि कैसे उन की प्रतिभा ने पश्चिम से उपार्जित सारे ज्ञान का और पश्चिमी काव्य की दीक्षा का, रचनात्मक उपयोग किया। बांग्ला को समृद्ध करने और नये रूप में अर्थक्षम बनाने में।

तब तक बांग्ला वृत्त-काव्य **पयार** छन्द में लिखा जाता था : सारे **मंगल काव्य** इसी छन्द में लिखे गये। मधुसूदन भी कथा-काव्य लिखने वाले थे, उन्होंने यही छन्द लिया। पर मधुसूदन का पयार पारम्परिक पयार नहीं है : वह पहचाना जा कर भी क्रान्तिकारी रूप से भिन्न है।

पयार चौदह वर्णों का वर्णवृत्त है : पारम्परिक पयार में आठ वर्णों के बाद यति होती थी, अन्त में तुक ('मित्राक्षर छन्द') पंक्ति का अन्त, वाक्य का भी अन्त होता था। मधुसूदन ने तुक को अनावश्यक मान

कर छोड़ दिया—'अमित्राक्षर' पयार अपनाया (अतुकान्त छन्द भारतीय काव्य का अपरिचित रहा हो, ऐसा नहीं था, पर मधुसूदन के ध्यान में अवश्य अंग्रेज़ी 'ब्लैंक वर्स' रही)। आठ वर्ण के बाद की अचल यति भी उन्होंने नहीं मानी और विराम को भी उतना ही चल मान लिया—अर्थात् पंक्ति में किसी भी वर्ण के बाद पूर्ण विराम आ सकता था। पर पयार की लय उन्होने नही छोड़ी। क्यों कि लय नहीं छोड़ी इस लिए पयार छन्द नहीं छोड़ा: लय ही वह चीज़ थी जिस से छन्द पहचाना जा सकता था।

लय का निर्वाह करते हुए मधुसूदन ने अपने को और सब बन्धनों से मुक्त कर लिया। और यही बांग्ला काव्य की मुक्ति हुई: इसी से वह आधुनिक बना। जहाँ पयार अत्यन्त एकरस वृत्तान्त का वाहक रहता था, वहाँ उस में एक आश्चर्यजनक लचकीलापन, प्रखर नाटकीय तनाव और गत्यात्मकता आ गयी। यों भी कह सकते हैं कि इस नयी नाटकीय लय से काव्य की रचना में ही एक नये प्रकार का काल-बोध लक्षित होने लगा और नया काल-बोध ही आधुनिकता की बुनियादी शर्त है। अब इस छन्द में नया कुछ कहना भी सम्भव हुआ, नये ढंग से और नयी गति से कहना भी।

पारम्परिक पयार का नमूना लीजिए:

चीड़ा भाजा उड़्या गेल शुधू खाइ जल
खुंगी-पूथि बया जाइते अंगे नाइ बल
दैव हेतु दुःख पाइ सहजे कातर
दक्षिणा मागिते नेलाम ताँतिदेर धर

(—धर्म-मंगल)

और मधुसूदन दत्त के पयार का

क्षमा सखे! पौषा पारवी पिंजर खुलिले
चाहे पुनः पाशिबारे पूर्व कारागारे?
एशो तुमि, एशो शीघ्र, जाबो कुंज-बने

तुमि, हे विहंगराज ! तुमि संगे मिले ।
देह पदाश्रय आशि प्रेम-उदासिनी
आमि । जथा जाओ जाबो, करिबोजा कोरो,
बिकाइबो काय-मन: तव राङा पाथे ।

(—व्रजांगना, सर्ग-२)

मैथिलीशरण गुप्त ने मधुसूदन दत्त के काव्यों का अनुवाद उसी छन्द में किया; उस की विशेषताएँ उन्होंने पहचानी और अधिकांश का उपयोग भी किया—कुछ उन्हें स्वीकार्य नहीं हुई । **सियारामशरण गुप्त** ने भी उसी छन्द में रचना की—पर वह अग्रज से कुछ आगे गये । कह सकते हैं कि उसी लय का प्रयोग उन्होंने किया और छन्द तोड़ दिया, क्यों कि लय का निर्वाह करते हुए उन्होंने चौदह वर्ण का बन्धन भी नहीं माना । मधुसूदन दत्त यति को चल मानते थे और विराम कहीं भी रखते थे; जब विराम का सम्बन्ध पंक्ति से नहीं रहा, न यति से, तो क्यों न पंक्ति को विराम से नापा जाय ? सियारामशरण गुप्त ने **बापू** में इसी लय का प्रयोग किया, पर पंक्तियाँ छोटी-बड़ी रखीं : यानी पयार की (या **घनाक्षरी** की) लय का 'रबड़ छन्द' उन्होंने लिखा । मैं ने भी इसी तरह यह छन्द लिखा—**इत्यलम्** की कई कविताओं में वह मिलेगा । घनाक्षरी की लय के साथ हम लोगों ने जो किया, **सवैये** की लय के साथ **गिरिजाकुमार माथुर** ने वही; सवैये की लय के अधिक प्रयोग हिन्दी में नहीं हुए ।

मधुसूदन दत्त ने केवल लय का निर्वाह करते हुए छन्द को बदल कर नाटकीयता नहीं पायी थी; उन्होंने इस के लिए बलाघात का भी सोद्देश्य प्रयोग किया था । अंग्रेज़ी काव्य से परिचित सभी कवियों का ध्यान इधर गया—अंग्रेज़ी छन्द का तो आधार ही बलाघात का प्रयोग है । और प्राय: सभी मुख्य कवि अंग्रेजी काव्य से परिचित भी हुए : बल्कि जो जो कवि उन्होंने पढ़े या उन्हें पढ़ाए गए, या उन्होंने पढ़ाये, उन से उन का अपेक्षया सीधा सम्बन्ध भी पहचाना जा सकता है।

जैसे **श्रीधर पाठक** अंग्रेज़ी काव्य से परिचित और स्वयं प्रतिभाशाली कवि हो कर भी अनुवाद करने चले तो और कोई सत्कवि न ले कर उन्होने चुना **गोल्डस्मिथ** को ! गोल्डस्मिथ तब भी दूसरे दर्जे के ही कवि माने जाते थे, पर भाषा की दृष्टि से उन की प्रशंसा थी और अंग्रेज़ी पढ़ने-पढ़ाने के लिए तो वह आदर्श माने जाते थे—और भारत में सर्वत्र पाठ्यक्रम में वह रहते थे।

स्वर की दृष्टि से हिन्दी में **सुमित्रानन्दन पन्त** की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है : विशेष रूप से पहले के काव्यों की। **पल्लव** की भूमिका में उन्होंने जो स्वर-विचार किया है, उस के कारण वह हिन्दी साहित्य की इतिहास-यात्रा में एक मील का पत्थर बन गया है। आज भी कवि को उस से मार्ग-निर्देश मिल सकता है। भूमिका में बहुत-कुछ उन्होंने कहा है और कुछ संकेतित छोड़ दिया है। इन संकेतो को समझ कर हम पहचान सकते हैं कि अंग्रेज़ी काव्य के परिचय ने किस तरह पन्त के लय-बोध को भी पुष्टतर बनाया : कैसे वह छन्द की कुछ मर्यादाएँ तोड़ कर लय को सूक्ष्मतर रूप दे सके। पन्त ने स्वयं उदाहरण दे कर बताया है कि कहीं-कहीं उन्होंने पंक्ति छोटी लिखी है पर उस के छोटे-पन से टूट नही आती, अर्थ की पुष्टि होती है : पर ऐसी पंक्तियां वास्तव में 'छोटी' नहीं हैं, स्वर-विचार की दृष्टि से बलाघात समान होने के कारण उसे अन्य पंक्तियों की समतोल ही माना जा सकता है। अंग्रेज़ी छन्द:शास्त्र यह युक्ति हमें तुरत दे देगा। इतना ही नहीं, हम जानते है कि **कीट्स** ने इस युक्ति का सहारा ले कर उसी ढंग का बड़ा समर्थ प्रयोग किया जैसा कि पन्त ने **आँसू** आदि में : और मैं समझता हूँ कि यह मानना ग़लत नहीं होगा कि पन्त कीट्स के काव्य से, उस में इस प्रयोग से, और इस की प्रभविष्णुता से परिचित थे : कि इस से उन्हें प्रेरणा मिली और इस युक्ति को काम में ला कर उन्होंने हिन्दी में लय के निर्वाह की नयी, मुक्ततर सम्भावना पैदा की।

हिन्दी छन्द:शास्त्र में कहीं भी स्वराघात का विचार नहीं है, उस

के बारे में कोई नियम, निर्देश या निषेध नहीं है; यद्यपि किसी अच्छे कवि ने इस सम्बन्ध में भूल कभी नहीं की। पन्त ने पहले-पहल इस का न केवल विचार किया, बल्कि समर्थ उपयोग भी। परवर्ती कवियों में स्वर के प्रति सजगता बढ़ती गयी है—सब में पन्त के प्रयोगों के समझने के कारण ही नहीं, अधिकतर अंग्रेज़ी काव्य के घनिष्ठतर परिचय के कारण।

मतलब यह कि स्वर-विचार के कारण लय-बोध बदल गया है और एक सूक्ष्मतर लय का प्रयोग सम्भव हो गया है। लय छोड़ी नहीं गयी है—यानी अच्छी कविता ने लय नहीं छोड़ी है। वही एक अपरिहार्य है—वही काव्य की मर्यादा है। 'अर्थ की लय' की बात हुई है: पर अर्थ की लय तो हमेशा रही है—कौन-सी अच्छी कविता हुई जिस ने अर्थ की लय नहीं निबाही? यह कहना ग़लत है कि पहले शब्द की लय थी और अब अर्थ की लय होती है। ऐसी बात का अगर कोई अर्थ हो सकता है, तो उसे पन्त ने कहीं अधिक सही रूप में पल्लव की भूमिका में कहा था—"**काव्य संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन**···**जिस छन्द में स्वर संगीत की रक्षा की जा सकती, उस के संकोच-प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उस में राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण रूप से मिलता है**···

असल में लय का श्रेष्ठ रूप हृदय की धड़कन के समान होता है, सहजावस्था में वह अलक्षित ही रहती है। तनाव की अवस्थाओं में ही हम अपने हृदय की धड़कन सुनते हैं: उस का सुन पड़ना ही तनाव के होने का सूचक है। काव्य में भी तनाव की अवस्था में लय मुखर हो उठती है, नाटकीय गति या अवरोध की सूचना देती है; ऐसी स्थिति में उस का बदलना, अवरुद्ध होना या टूटता-सा जान पड़ना उस का त्याग नहीं, उस की अतिरिक्त शक्ति का उपयोग है। आज का कवि लय को अनावश्यक कहता है तो भूल करता है। लय को छोड़ने पर कविता

नहीं होगी। लय को सहज या ओट में रखना उचित है; जितनी ही वह सहज और सूक्ष्म होगी उतनी ही अन्त:स्थ और अलक्षित रहेगी। पर अलक्षित होना, न होना नही है। तनाव की स्थितियों में हृदय की गति की तरह वह असम हो कर उभरेगी, वह असमता "राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य" ही जतायेगी, लय का पराभव नहीं।

ज) क्षण और कुण्ठा

आज क्षण की और क्षण की अनुभूति की बात बहुत होती है। कुछ वैसे ही जैसे कुछ वर्ष पहले कुण्ठा की बात बहुत होती थी। एक समय मैंने क्यों कि विश्लेषण कर के स्थापना की थी कि उत्तर छायावाद के काव्य में कुण्ठाओं का प्रभाव है, इस लिए मुझे कुण्ठावादी कहा जाने लगा। फिर मैंने अनुभूति के क्षण की चर्चा की है तो क्षणवादी के नाम से कोसा जाने लगा हूँ। इस तरह की आलोचना जितने छिछले स्तर की समझ का लक्षण है उतनी ही छिछली उस लेखक की समझ भी है जो कुण्ठा को मूल्य मान कर उसी का प्रचार करे और जो अनुभूति-क्षण के प्रति सच्चाई का सन्दर्भ छोड़ कर दिशारहित क्षणजीवी होना चाहे—और इस लिए क्षणजीवी साहित्य ही पैदा कर सके। **रॉस** ने जब सिद्ध किया कि मलेरिया ज्वर एक जीवाणु के कारण होता है तो वह मलेरियावादी नहीं हो गया था। बल्कि वह सिनकोनावादी या कुनैनवादी भी नहीं बना था—यद्यपि इलाज के लिए उस ने दवाओं का समर्थन किया था। अधिक से अधिक उपचारवादी आप उसे कह सकते—या कि सही अर्थ में स्वास्थ्यवादी, क्यों कि लक्ष्य उस का यही था कि बीमारी का इलाज हो और मनुष्य स्वस्थ हो, बीमारी को ही प्रवृत्ति न माना जाये।

यों क्षणवाद का एक प्राचीन और प्रतिष्ठित सिद्धान्त रहा, वह नाम अपने-आप में गाली नहीं है, अगर दार्शनिक क्षणवाद की बात

हो रही हो ।

मैंने **क्षण** पर जो बल दिया है वह अनुभूति के प्रति सच्चाई के सन्दर्भ में ही, यानी रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में। भोक्ता से द्रष्टा होने का परिवर्तन क्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षण है, वही स्रष्टा होने की पहली शर्त है। ऐसा ही क्षण साहित्य का असल 'वर्तमान' है। जो भोक्ता है और पहचानता नहीं कि मैं भोग रहा हूँ, वह अभी केवल ग्रहीता है, सम्प्रेषक न वह है न हो सकता है। दूसरी ओर जब वह पूरी तरह अनुभूति को पहचान लेता है, आप्त कर लेता है, तब वह उस से अलग हो चुका होता है—यानी तब वह अनुभूति उस का वर्तमान नहीं, अतीत अनुभव होता है। सच्चा वर्तमान ऐसा क्षण है जिस के साथ न तो स्मृति का आभास है और न प्रत्याशा या अपेक्षा का—क्यों कि एक अतीत का लक्षण है और दूसरा भविष्य का। दोनों प्रकार की छायाओं से मुक्त असम्पृक्त क्षण ही वर्तमान है। गणित के बिन्दु की तरह इस का कोई आयाम नहीं होता, केवल अस्तित्व होता है। कवि का काम इसी क्षण को पकड़ना या कि ऐसे क्षणों की शृंखला को पकड़ते चलना है। वास्तव में यह काम होता नहीं, लेकिन यथा-सम्भव इस के निकटतर आते रहना, 'है' और 'था' के अन्तराल को कम से कमतर करते चलना, कवि का इष्ट है। '**मैं सच लिखता हूँ, लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ**।' इस में व्यर्थता नहीं है कि कवि सच को पकड़ता रहे और उसे झूठ हो जाने देता रहे।' कवि के लिए जोखम इस में है कि पकड़ में आये हुए सत्य को सनातन सत्य मान ले। आज के कवि को अपनी ही कृति के बारे में यह कह सकना चाहिए कि 'यह सच था जिसे मैंने पकड़ा; और पकड़ा इस लिए अब तक झूठ हो गया होगा।'

इन दिनों कुण्ठा की इतनी बात होती है और कुण्ठित साहित्य की ऐसी बाढ़ आयी हुई है कि मैं ऊब गया हूँ। कोई व्यंग्यपूर्वक कह सकता है कि इसी से मैं आज का कवि हूँ क्यों कि ऊब भी तो आधुनिक मनःस्थिति का लक्षण है! जीवन से ऊब मुझ में नहीं है, कुचर्चा से

ऊब है। जो स्वयं कुण्ठित हो, अपनी कुण्ठा से उत्पीड़ित हो, उसी से प्रेरित साहित्य लिखे, वही कुण्ठा की इतनी चर्चा भी करे, यह बहुत ही बुरा है। आज की कविता की भाषा में जो वासनाओं की उग्रता और आक्रामक यौन परितृप्ति का मुहावरा पाया जाता है वह वास्तव में मानसिक स्वतन्त्रता या चेतनागत मुक्ति का लक्षण नहीं, वह कुण्ठा की ही प्रतीप अभिव्यक्ति है। स्वच्छन्द व्यक्ति मानसिक बलात्कार नहीं करता, कुण्ठित व्यक्ति ही उस में परितृप्ति खोजता है। ऐसा ही मन साहित्य परम्परा में ग़लत उदाहरण ले कर उन से विकृत परिणाम निकालता है। **तार सप्तक** में मैं ने मध्यवर्ग की यौन वर्जनाओं का उल्लेख किया था। उस का भी ग़लत अर्थ लगाया गया था और अब भी लगाया जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में ही राजा की मुनि-कन्या के प्रति आसक्ति का दृश्य आ जाता है। तत्कालीन आचार की दृष्टि से यह मर्यादा का उल्लंघन है लेकिन नाटकों में इस से बचा गया है। बहुत जल्दी यह बता दिया गया है कि शकुन्तला मुनि-कन्या नहीं है; राजा अपने को आश्वस्त कर लेता है कि उस के संस्कार उसे धोखा नहीं दे रहे हैं और वह मर्यादा से बाहर नहीं जा रहा है। इस लिए यह स्थिति ऐसी नहीं कि यौन वर्जना वहाँ पर लागू हो। यदि शकुन्तला सचमुच मुनि-कन्या होती तब राजा के सामने दूसरा प्रश्न होता। या तो राजा राज-मर्यादा का पालन करने के लिए अपने भाव का उदात्ती-करण (सब्लिमेशन) करता, इस दशा में माना जाता कि वर्जना वहाँ थी और उस का संगत प्रभाव हुआ; दूसरी ओर यदि वह ऐसा करता लेकिन राजा होने के नाते लोकापवाद से डरता या अपनी भावनाओं को मन ही मन कोसता रहता, तो वहाँ कुण्ठा होती। यदि वह चोरी-छिपे सम्बन्ध स्थापित करता और उसे वैसा ही बनाये रखना चाहता तो वहाँ एक दूसरे प्रकार की कुण्ठा होती जिस से पाखंड जन्म लेता। और यदि राजा मर्यादा तोड़ता और समाज को बताना चाहता कि

मर्यादा अनावश्यक है और वह उसे तोड़ रहा है और इस तोड़ने का जो भी परिणाम हो उसे सहने को तैयार है तो वह विद्रोह कहलाता।

आज का कवि मुख्यत: मध्यवर्ग से आता है और मुख्यत: मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता है, इसी वर्ग में वर्जनाएँ सब से अधिक क्रियाशील हैं और इस लिए इसी वर्ग में कुण्ठाएँ सब से स्पष्ट लक्षित होती हैं। जहाँ तर्क से या आचार बोध के समाजव्यापी परिवर्तन से कोई वर्जना अनावश्यक हो जाती है वहाँ उस को ले कर कुण्ठा नहीं हो सकती—कुण्ठा वहीं हो सकती है जहाँ किसी निषेध के कारण प्रवृत्ति और आचरण में विरोध की गाँठ पड़ जाय।

कवि समाज में रहता है। समाज की आचरण-सम्बन्धी साधारण मर्यादा से—समाज के संस्कार से—उस का परिचित होना स्वाभाविक और आवश्यक दोनों हैं। लेकिन इस में असम्भव कुछ नहीं है कि समाज के संस्कार और परिवार-विशेष के संस्कार या कि व्यक्ति-विशेष के संस्कार अलग-अलग हों। या कि शिक्षा और चिन्तन की प्रगति के कारण व्यक्ति के निजी संस्कार और भी बदलते जायें। जहाँ अन्तर हो वहाँ कवि का कर्त्तव्य है कि जैसे वह समाज के संस्कार से परिचित है वैसे ही अपने संस्कार का परिचय समाज को दे: जितना समाज से मर्यादित हो उतना ही समाज को बदलने में भी क्रियाशील रहे। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से उसे इस में बहुत सहायता मिल सकती है। बहुत-से पुराने विश्वास और संस्कार जो एक समय 'वैज्ञानिक' भी थे इस लिए कि विज्ञान की तत्कालीन पहुँच वहीं तक थी, आज तर्क के सामने नहीं टिक सकेंगे। इन्हें छोड़ना और बदलना ही होगा। कभी कोई बात ऐसी भी हो सकती है जिसे हम पहले अन्ध-विश्वास समझते रहे हों लेकिन जिसे नये विज्ञान से समर्थन मिले। नि:सन्देह ज्ञान-वृद्धि से समाज क्रमश: जटिलतर होता जाता है और उस में रहने वाले कवि की रचना-प्रक्रिया भी जटिलतर होती जाती है और कविता में भी जटिलता बढ़ती है। वैदिक काल में सम्भवत: ऐसा नहीं था। शायद

इसी लिए वह सतजुग था। मैं कह चुका कि वेदों को काव्य-दृष्टि से देखना उचित नहीं है, पर कविता की आज की समस्याओं का हल खोजने के लिए उसे भी वेदों की दृष्टि से देखना आवश्यक नहीं है। जटिलता का एक पक्ष यह भी है कि आज ऐसा नहीं है कि कविता का पढ़ना-सुनना केवल सहृदय तक—यानी समान संस्कारी तक ही—सीमित रखा जा सके। लेकिन आज के कवि को विधाता के आगे यह दुहाई देने की ज़रूरत भी नहीं है कि उस के कपाल पर 'अरसिकेषु कवित्व-निवेदनम्' न लिखा जाये। संस्कार की विविधता है, सहृदयता भी है और अरसिकता भी, ज्ञान-विज्ञान के कारण बढ़ी हुई जटिलता भी है और प्रवृत्ति और परिस्थिति के वैषम्य के कारण बढ़ी हुई जटिलता भी है, इन सब जटिलताओं को ओढ़ कर ही सम्प्रेषण की समस्या का उत्तर मिल सकेगा, इन को अनदेखा कर के नहीं। बल्कि अगर हम मान लें कि यही सन्दर्भ है जिस में सम्प्रेषण की समस्या का जवाब आज के कवि को (और संवेदन की समस्या का उत्तर आज के पाठक को) खोजना है तो इसी से धुन्ध छँट जायेगी और बहुत-सी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी—मार्ग स्पष्टतर दीखने लगेगा।

हिन्दांग्लीयम्

क्या अंग्रेजी में भारतीय साहित्य हो सकता है? क्या अमेरिका या आस्ट्रेलियाई अंग्रेजी की तरह एक भारतीय अंग्रेजी भी हो सकती है?

मैं अंग्रेज़ी को एक विशिष्ट सन्दर्भ के बाहर भारतीय भाषा नहीं मानता; न मैं समझता हूँ कि वह कभी भारतीय भाषा बनने वाली है। इस लिए अंग्रेजी में लिखी गयी भारतीय रचनाओं को मैं अधिक महत्त्व नहीं देता। मेरी धारणा है कि कोई भी लेखक सृजनात्मक अधिकार के साथ केवल एक भाषा लिख सकता है। यह तो हो सकता है कि वह एक भाषा विदेशी भाषा हो; पर तब लेखक वही एक भाषा लिख सकेगा, अपनी भाषा फिर नहीं लिख सकेगा। और अगर ऐसा है, तो कोई भारतीय क्यों अंग्रेजी में लिखना चाहेगा—यानी रचना करना चाहेगा? कोई भी भारतीय भाषा उस से अच्छी रहेगी और लेखक को अधिक तृप्ति देगी।

---

* श्री राजीव वर्मा द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के लिखित उत्तर। मूल प्रश्नोत्तर अंग्रेज़ी में था। फ़िल्म और रंगमंच-विषयक दो-तीन प्रश्नों के उत्तर छोड़ दिये गये हैं।

रही भारतीय अंग्रेज़ी की बात। वैसी अंग्रेजी कोई होगी तो उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में हम आस्ट्रेलियाई या अमेरिकी अंग्रेज़ी की बात करते हैं। अमेरिकी अंग्रेज़ी अमेरिका में जा बसे अंग्रेजों की सृष्टि थी—वह एक नये परिवेश में एक प्रकृत उपज थी। भारत में अंग्रेज़ी का स्थान क्या तुलनीय है? अब वह ऐसी धारा है जो मूल स्रोत से कट चुकी है; उस की प्रगति और उस का विकास नक़ली और प्राणरहित है। अब उस की तुलना अमेरिकी अंग्रेज़ी से नहीं, हिन्दुस्तानी फ़ारसी से करनी चाहिए। हमारी फ़ारसी बड़ी मँजी हुई नागर भाषा हो सकती है, पर वह आधुनिक ईरानी नहीं है। आज जो हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ी बोलते-लिखते हैं, हो सकता है कि वह जन्मजात अंग्रेज से भी अच्छी या अधिक शुद्ध एक भाषा बोलते हों, पर भाषा अब अंग्रेज़ी नहीं रही—वह जीवित भाषा नहीं है। हिन्दुस्तानी की अच्छी अंग्रेज़ी भी विक्टोरिया युग की अंग्रेज़ी होती है—यानी उस युग की अंग्रेज़ी जिस में मूल स्रोत से एक जीवित सम्पर्क बना हुआ था।

एक और भी कारण है जो 'इंडियन इंग्लिश' वाली दलील को पोच सिद्ध कर देता है। अमेरिका एक राष्ट्र-समाज है, इसलिए वहाँ एक अमेरिकी अंग्रेजी हो सकती है। यों भी कह लीजिए कि वहाँ जिस हद तक एक राष्ट्र-समाज है उसी हद तक एक अमेरिकी अंग्रेज़ी है; और जिस हद तक वह राष्ट्र-समाज विखंडित है और परस्पर अस्पर्शी वर्ग-समाजों को प्रश्रय देता है उसी हद तक अमेरिकी अंग्रेज़ी में भी अलग-अलग अंग्रेज़ियाँ हैं—असन्दिग्ध रूप से अमेरिकी; उतने ही असन्दिग्ध रूप से अंग्रेज़ियाँ और उतनी ही स्पष्टता से अलग रहती और रहना चाहती हुई। भारत में एक राष्ट्र-समाज नहीं, अनेक भाषा समाज हैं, इस लिए यहाँ कोई एक इण्डियन इंग्लिश नहीं हो सकती, यहाँ 'पंजाबी इंग्लिश' अलग होगी और है, 'बंगाली इंग्लिश' अलग, 'तमिल इंग्लिश' अलग। जब एक भारत-राष्ट्रीय भाषा होगी तभी एक भारतीय अंग्रेज़ी भी होगी, तब तक नहीं हो सकती।

एंग्लो-इंडियनों के बारे में आप का क्या कहना है ? उन की तो मातृभाषा अंग्रेजी है और वे उस से सम्पृक्त परिवेश भी बनाए हुए हैं; उसी में रहते हैं ?

मातृभाषा तक तो ठीक। पर क्या परिवेश की बात सही है ? क्या जीवित सहज सम्पर्क अभी है ? एंग्लो-इंडियन समाज एक तरफ तो इंग्लैंड को देश मानता और उस का मुँह जोहता हुआ यहाँ के जीवन-सन्दर्भ से कटा रह गया है; दूसरी तरफ वह इंग्लैंड की सांस्कृतिक परम्परा से पुष्टि नहीं पा सका क्यों कि वास्तविक अंग्रेज़ी परिवेश से भी उस का सजीव सम्पर्क रहा नहीं।

भारतीय अंग्रेज़ी लेखकों के बारे में आप की बड़ी बुरी धारणा जान पड़ती है। क्या उन में से कई सफल लेखक नहीं हैं ?

सफल—हाँ, कुछ सफल अवश्य हैं। लेकिन किसी लेखक की कृति भारतीय कैसे हो सकती है अगर वह भारत की कोई भाषा नहीं जानता ? जिस के बारे में वह लिखता है उसे वह जान कैसे सकता है ? कुछ भारतीय लेखक विदेशों में प्रसिद्ध हो गये हैं, लेकिन उन की कृतियों की भारत में तो कोई खास प्रतिष्ठा नहीं हुई—न मूल अंग्रेज़ी में; न भारतीय भाषानुवाद में। और कारण सर्वदा वही एक रहा है—कि रचना पर्याप्त भारतीय नहीं है : या तो चित्र अधूरा या विकृत है, या संवेदना परायी है।

एक राजा राव ही अपवाद हैं शायद। आज के भारत को वह भी शायद अच्छी तरह नहीं जानते, पर एक पीढ़ी पहले के देश—-या उस के एक भाग—को वह गहराई से जानते हैं। वह अपनी देशी भाषा भी जानते हैं और जिस जाति या वर्ग की बात उन्होंने लिखी है उस की संवेदना से भी वह टूटे नहीं हैं। संवेदन के भेद और उस भेद से उत्पन्न तनाव के प्रति वह सजग हैं—उसे ही तो प्रस्तुत करने

का उन्होंने प्रयत्न किया है। और इण्डियन इंग्लिश उन्होंने नही लिखी; उस आयास-सिद्ध भाषा को 'ब्राह्मण इंग्लिश' शायद कहा जा सके और यही उस का विशिष्ट स्वाद होगा। आर०के० नारायण भी सफल लेखक हैं, अच्छे भी हैं और देश में सम्मानित भी; वह इस लिए कि वह सब से पहले कहानी कहते हैं—उस कहानी को भाषा से अलग भी किया जा सकता है यानी दूसरे शब्दों या दूसरी भाषा में भी कहा जा सकता है। राजा राव की कहानी को भाषा से अलग नहीं किया जा सकता। इस लिए हिन्दांग्लीय लेखक के सन्दर्भ में नारायण का उदाहरण कुछ सिद्ध नहीं करता—न इधर, न उधर। मुल्कराज आनन्द: भारतीय उपन्यास-साहित्य के पाठक उन से बहुत अधिक प्रभावित नहीं हैं, और नहीं समझ पाते कि विदेशों में उन्हें इतनी प्रशसा किस बात के लिए मिली है।

भाषा की शिक्षा में हमारी शिक्षानीति की त्रुटियों के बारे में आप की क्या राय है?

हमारे विद्यालय बालक को कोई भी भाषा अच्छी बोलना नहीं सिखाते। विदेशी भाषा पर ही आग्रह रहेगा तो कभी सिखा भी नहीं सकते। बालक को पहले अपनी भाषा अच्छी तरह सीखनी चाहिए, उस का मानक स्वरूप पहचानना और उस का सम्मान करना चाहिए। भारत में जो अंग्रेज़ी सीखते हैं उन में ९० प्रतिशत केवल अंग्रेज़ी के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति से मेरा अभिप्राय दैनन्दिन प्रयोजनों की सिद्धि से अधिक कुछ है। जो बालक अपनी पहली भाषा अच्छी तरह नहीं सीखता, उसे दूसरी कोई भाषा सीखने में भी कठिनाई होती है। परिणाम? वह अधिसंख्य समाज से कट जाता है, उन से सम्पर्क नही स्थापित कर सकता।

हम में से जिन्होंने अंग्रेज़ी माध्यम वाले स्कूलों में शिक्षा पायी है, सब की यही हालत होगी?

ऐसा ही जान पड़ता है। यह परिस्थिति मै स्वयं भोग चुका हूँ। मैं ने सस्कृत और फ़ारसी से आरम्भ किया था, पर ये शास्त्रीय भाषाएँ थीं; व्यवहार की भाषा के लिए अंग्रेजी सिखायी गयी थी—उसी को पढ़ने, लिखने, बोलने पर जोर दिया जाता था। बात यहाँ तक पहुँची थी कि चिन्तन और यहाँ तक कि स्वप्न की भाषा भी अंग्रेज़ी हो जाये। पर फिर मैं संकल्प-पूर्वक हिन्दी में लौट आया। इस के लिए कम संघर्ष नहीं करना पड़ा, पर आप मानिए कि हिन्दी लिख कर जो तृप्ति मिलती है अंग्रेजी से कभी नहीं मिल सकती थी। कृतिकार अपने माध्यम का उपयोग ही नहीं करता, उस की सृष्टि भी करता है। और हम जो हैं उसी की सृष्टि कर सकते है।

क्या अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए ज़मीन तैयार हो गयी है? क्या परिवर्तन का धक्का देश की व्यवस्था सह लेगी?

हमें जैसी नौकरशाही मिली उस का आघात हम सह ले गये तो कोई कारण नहीं कि अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी—या कोई भी भारतीय भाषा—प्रतिष्ठित करने का आघात हम न सह सकें। बल्कि ज़रूरी नहीं है कि हिन्दी ही हो—कोई भी भारतीय भाषा अंग्रेज़ी की अपेक्षा अच्छी रहेगी। हिन्दी इस लिए अधिक अच्छी रहेगी कि यह परिवर्तन सब से कम कष्टकर होगा—अंग्रेज़ी से हिन्दी; किसी दूसरी भाषा के बदले हिन्दी नही। राजभाषा विधेयक में जो परिवर्तन हुआ उसे प्रतिगामी ही मानना होगा। निश्चय को हम जितना टालेंगे परिवर्तन उतना कठिनतर ही होगा। टालना कोई हल नहीं है।

जो भारतीय लेखक अपनी भाषा के अलावा अंग्रेज़ी भी जानता है, उस की हालत क्या अंग्रेज़ी न जानने वाले से अच्छी नहीं है?

कोई भी दूसरी भाषा जानना हमेशा लाभकर होता है: दो भाषाएँ जानने से तीन भाषाएँ जानना अधिक उपयोगी है और इसी तरह और आगे भी। सवाल अंग्रेज़ी तक ही सीमित रखना आवश्यक नहीं है। पर आप का सवाल अगर इस से आगे कृतिकार लेखक के लिए किसी लाभ के बारे में है तो उस के दो पहलू हो सकते हैं। पहला यह कि विभाषा-साहित्य के अध्ययन से कृतिकार को क्या लाभ हो सकता है? दूसरा यह कि विशेष रूप से अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से भारतीय कृतिकार को क्या लाभ हो सकता है? अगर आप का आशय यह दूसरा है, तो मैं कहूँ कि अंग्रेजी साहित्य का परिचय किसी दूसरे विभाषा साहित्य—उदाहरण के लिए रूसी या फ्रांसीसी या इस्पानी—की तुलना में किसी आत्यन्तिक रूप में अधिक उपयोगी या लाभकर हो, ऐसा नहीं है।

लेकिन अंग्रेज़ी का स्थान कुछ तो विशिष्ट है ही—आखिर वह दो सौ वर्षों से हमारे साथ रही है?

हाँ, मगर फ्रांसीसी और पुर्तगेजी भी तो हमारे साथ रहीं—बल्कि पुर्तगेज़ी कुछ पहले से। यह मैं मानता हूं कि अंग्रेज़ी सीखने में कुछ कम कठिनाई होगी क्यों कि उसे जानने वालों की संख्या अधिक है। पर अंग्रेज़ी जानना आत्यन्तिक रूप से अधिक अच्छा हो ऐसा नहीं है। निःसन्देह अंग्रेज़ी पढ़ना हितकर है, जैसे कि और भी कोई विभाषा या उस का साहित्य पढ़ना हितकर है।

अंग्रेजी विश्वविद्यालयों में कोई भी अपने को शिक्षित नहीं मान सकता बिना अपने साहित्य के अलावा दूसरे यूरोपीय साहित्यों से कुछ न कुछ परिचय के—फ्रांसीसी, जर्मन, स्कैंडिनेवी, रूसी, इस्पानी··· और यहाँ भारत में? थोड़े-से अंग्रेज़ी ज्ञान के बाद हम अपने को शिक्षित मान लेते हैं—उस का प्रमाण-पत्र भी पा लेते हैं। बल्कि यह पूछना ही अनावश्यक समझा जाता है कि किसी भी भारतीय साहित्य

का कुछ भी ज्ञान है या नहीं ?

तब क्या हमें पहले अपने पड़ोसी देशों के—चीन, ईरान, बर्मा वगैरह के—साहित्य से ही परिचित होना चाहिए ? क्या हमारे लिए वे ही अधिक सन्दर्भयुक्त नहीं होंगे ?

यह अनिवार्य तो नहीं है कि वे अधिक सन्दर्भयुक्त हों। हम ने जैसा भी चाहा होगा, तथ्य यह है कि पश्चिम की ओर से हमारा सम्बन्ध अधिक गहरा और विस्तृत हो गया है। पश्चिम की ओर से का आशय जिसे वेस्ट कहा जाता है वही नहीं, पश्चिम एशिया के देश भी हैं। हम से पूर्व के देशों को हम ने अतीत युगों में जितना उन से लिया उस से अधिक दिया; पर हम से पश्चिम के देशों से आदान-प्रदान बराबर होता रहा है और आज भी हो रहा है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हम अपने निकटतम पड़ोसियों को अधिक घनिष्ठता से न जानें बल्कि यह बड़े दुःख की बात है कि उन से आदान-प्रदान की प्रणालियों को हम ने इतना सूख जाने दिया। पर पश्चिमी साहित्य की सन्दर्भवत्ता सीधी और तात्कालिक है, जब कि पूर्वी साहित्यों से सन्दर्भ जोड़ने के लिए इतिहास की मध्यस्थता अपेक्षित है।

प्रभाव के बारे में आपकी क्या राय है ? पश्चिम के साहित्य का भारतीय साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा है ? क्या विभिन्न कला-रूपों की हमारी अवधारणा पश्चिम से मँगनी पायी हुई नहीं है ?

प्रभाव बहुत पड़ा है : पहले वह केवल अंग्रेज़ी साहित्य का रहा पर अब उस में अधिक वैविध्य है क्यों कि दूसरे कई साहित्यों से भी सम्पर्क हो गया है—चाहे यह भी अधिकांशतः अंग्रेज़ी अनुवाद के माध्यम से ही। लेकिन स्वतन्त्र प्रयोग भी हमेशा होते रहे हैं और जहाँ तक विभिन्न कला-रूपों या विधाओं का प्रश्न है, सब उधार ली हुई

नहीं हैं। अंग्रजी-पढ़ों में ऐसा मानने की प्रवृत्ति ज़रूर है, पर यह धारणा है ग़लत और उस से नुकसान भी हुआ है। उपन्यास ही ले लीजिए : साधारण प्रवृत्ति है कि भारतीय उपन्यास को अंग्रेज़ी उपन्यास के और उस की परम्परा के साथ जोड़ा जाय और इस प्रकार इटली की नूवेल्ला के साथ, वग़ैरह। पर नूवेल्ला से और पीछे चलें तो ? **बोकाच्चियो** के पीछे अरबी-फ़ारसी मध्यवर्तियों की ओट में **कथा-सरित्सागर** है। इसी तरह हम शती के आरम्भिक भाग के भारतीय कवियों पर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों के प्रभाव की बात कहते हैं और निःसन्देह वह प्रभाव है भी—उस काल के कवियों ने अपनी कालेजी शिक्षा में मुख्यतया **वर्ड्सवर्थ** ही तो पढ़ा था !—पर स्वयं यूरोपीय **रोमांटिसिज़्म** का गहरा सम्बन्ध पूर्व से है। **जिप्सी** या **रोमनी** लोक-गाथा से उस प्रवृत्ति ने काफी प्रेरणा ली और **रोमनी** मूलतः प्राचीन भारत की **डोमनी** है। यूरोपीय रोमांटिक आन्दोलन के बहुत-से अभिप्रायों के प्रारूप यहाँ की प्राचीन लोक-गाथा में मिल जायेंगे—और उनके यात्रापथ की ऐतिहासिक लीकें भी पहचानी जा सकती हैं। हाँ, इस प्रभाव-क्रम को अंग्रेज़ी द्वारा शिक्षित भारतीय अध्यापक ठीक-ठीक नहीं समझता। प्रभाव सीधे नहीं होते, न सीधे समीकरणों द्वारा निरूपित किये जा सकते है; वे अकल्पनीय और आश्चर्यजनक भी हो सकते हैं। **उपनिषदों** को रोमांटिक काव्य कोई नहीं कहेगा, पर **दाराशिकोह** कृत फ़ारसी अनुवाद के फ्रांसीसी अनुवाद को पढ़कर फ्रांसीसी कवि या **एमेनेस्कू** चमत्कृत हो गया तो उस के परिणाम अकल्पनीय ही हुए। एमेनेस्कू की कविता का हिन्दू वीर चरितनायक मरते समय प्रार्थना करता है—**कामदेव** की वन्दना कर के। **कालिदास** की शकुन्तला हमारे लिए क्लासिकल नाटक है, पर **शिलर** और **गयटे** की शकुन्तला रोमांटिक नायिका है। तो क्या हुआ ? रचनात्मक प्रभाव की अपनी प्रक्रिया होती है : वह नक़ल या अनुवाद नहीं होता।

लेकिन क्या आज के भारतीय लेखक उपन्यास की देशीय परम्परा से परिचित होते हैं ?

होने चाहिए। होते भी हैं— कम से कम जो महत्त्वपूर्ण हैं वे तो हैं और मेरा विश्वास है कि यह परिचय और ज्ञान बढ़ेगा ही—जैसे-जैसे हमारा इतिहास का ज्ञान गम्भीरतर होता जायेगा और पूर्वग्रह छँटते जायेंगे।

लेकिन उपन्यास की विधा में कोई सचेतन प्रयोग नहीं हुआ, क्या यह सिद्ध नहीं करता कि विधा की कोई सजग चेतना नहीं है ?

कोई ज़रूरी नही है कि कलाकार के सब प्रयोग सचेतन ही हो। आखिर साधन है, मार्ग है। अगर कलाकार जानता है कि वह कहाँ पहुँचना चाहता है तो उस के लिए सर्वोत्तम मार्ग खोज लेता है। यों भी किसी कलाकृति के रूपाकार के तत्त्वों का विचार-विश्लेषण आलोचक का काम है, कृतिकार का नही।

आप ने जब 'शेखर : एक जीवनी' लिखी, तब क्या आप को ध्यान था कि आप उपन्यास की विधा में प्रयोग कर रहे हैं ?

मेरा लक्ष्य वह बिल्कुल नहीं था। चेतना मुझे रही हो—हाँ, कभी-कभी होती भी थी—कि जो मैं कर रहा हूँ वह जो औरों ने किया उस से भिन्न है—यानी जहाँ तक मेरी जानकारी थी। **शेखर** का जो रूप बना उस के लिए कोई नमूना मेरे सामने नहीं था। लेकिन यह बोध मुझे था कि मेरे पास कहने को कुछ है, वह कहने की मेरी उत्कट इच्छा थी; वह कहने का जो ढंग मुझे सब से अधिक उपयुक्त लगा वही मैं ने अपनाया।

लेकिन यह तो आप मानेंगे कि जो कहने को है उसे कहने

का सही ढंग पता लगाने के लिये पर्याप्त आलोचना-बुद्धि की आवश्यकता होती है ?

हाँ, बुद्धि की आवश्यकता होती है—और बुद्धि प्रधानतया आलोचना-धर्मी है ।

भारतीय साहित्यालोचन में आप की राय में क्या हम आलोचना की पश्चिमी परम्पराओं से प्रभावित हैं और क्या यह स्वस्थ प्रभाव है ?

निश्चय ही हम प्रभावित हैं । और कुछ हो भी कैसे सकता था जब हमारे कालेज जाने वाले अधिसंख्य आलोचक एकान्त उसी परम्परा में दीक्षित हुए ? लेकिन यह आप को नहीं भूलना चाहिए कि पश्चिमी परम्परा के भीतर ही भारत की शास्त्रीय परम्परा की अपेक्षा कहीं अधिक गड़बड़ी और विरोध है । और हम कभी एक सम्प्रदाय से प्रभावित हुए, कभी दूसरे से । कभी मार्क्स का बोलबाला था । दूसरी सामाजिक-आर्थिक प्रवृत्तियाँ भी रहीं । फिर मनोविज्ञान रहा और मनोविश्लेषण आया । आज हम जहाँ हैं वहाँ दीखता है कि भारत की शास्त्रीय परम्परा और पश्चिमी आलोचना सिद्धान्त अलग-अलग दोनों नाकाफ़ी हैं । यह तो नहीं कहा जा सकता कि समन्वय का रास्ता हम ने पा लिया है, पर यह अवश्य है कि दोनों को साथ पढ़ना आवश्यक है । एक की कसौटी से पाये हुए मूल्य को दूसरे की कसौटी से परखते चलना ही इस समय सब से अच्छी पद्धति होगी । जब-जब हम ऐसा करते हैं, हमें नया कुछ मिलता है जो हमारी समझ को गहरा करता है । फिर भी मानना होगा कि सरसरी तौर पर साहित्यालोचन के क्षेत्र में हम सब पर पश्चिमी पद्धतियां हावी हो रही हैं । विश्वविद्यालयो में शास्त्रीय आलोचकों के लिए अलग एक साँचा सुरक्षित रहता है, बस ।

क्या प्रादेशिक भाषाओं में ऐसे कोई लेखक हैं जिन्हें अखिल भारतीय स्तर का माना जा सके ?

निश्चय ही हैं। सब भाषाएँ सब विधाओं में एक-सी सम्पन्न नहीं हैं। जितनी मेरी जानकारी है उसके आधार पर अनुमान करता हूँ कि इस समय हिन्दी, बांग्ला, मराठी और मलयालम अपेक्षया अधिक सृजनशील हैं। हिन्दी का काव्य सम्पन्न है; बांग्ला में बड़े उपन्यास अच्छे निकले हैं, कहानी में वह शायद आगे नहीं है।

हाल में किसी ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि भारतीय लेखक की असफलता कमिटमेंट की असफलता है—कि उस में आधारभूत स्वीकारात्मक आग्रह की कमी है। इस बारे में आप की क्या राय है ?

मैं नहीं कह सकता कि असफलता है ही, और है तो उस का कारण कमिटमेंट का न होना है। और अगर आधारभूत आग्रह से अभिप्राय पक्षधरता का है, तो असफलता समूची भारतीय परम्परा और जीवन-दृष्टि और यथार्थ-बोध की है। क्यों कि भारत की दृष्टि की यह विशेषता रही है कि हम मानते रहे हैं कि जो हम मानते हैं उस से उलटा मानना भी सही हो सकता है। भारतीय दृष्टि से कोई भी स्वीकारात्मक आग्रह सत्य तभी होता है जब वह विरोधी आग्रह या खंडन न करे बल्कि उसे भी अपने में पचा ले। पश्चिम इसे समझने या ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाता है; उसकी दृष्टि अधिक कट्टर और आत्यन्तिकतावादी होती है। स्वीकारात्मक आग्रह की कमी उदासीनता भी हो सकती है और सहिष्णुता भी; एक ऋणात्मक है, एक धनात्मक। वह पलायन भी हो सकती है और साहस भी। हमारे श्रेष्ठ लेखकों में पक्षधरता की कमी या 'कमिटमेंट की असफलता' वास्तव में एक धनात्मक मूल्य का आग्रह ही है। वहाँ असफलता नहीं

है, कमी भी नहीं है; बात इतनी है कि कमिटमेंट एक दूसरी मूल्य-दृष्टि के प्रति है। जीवन को उस की सम्पूर्ण और स्पष्टतया स्वीकृत जटिलता से युक्त रूप में साक्षात्कार करने का संकल्प ही वहाँ है : और जहाँ संकल्प है वहां कमिटमेंट की कमी कैसे है ?

व्यक्तित्व, विधाएँ, बाधाएँ

आप साहित्य की कई विधाओं में रचना करते रहे हैं। इन में से कौन-सी विधा आप को सब से अधिक सन्तोष देती है? गद्य में किस प्रकार की अभिव्यक्ति आप को सब से अधिक रुचिकर लगती है?

समय-समय पर सभी सन्तोष देती हैं। यों एक ज़माना था जब मुख्यतया कवि माने जाने की कामना थी; फिर आख्यान-साहित्य की ओर रुचि रही—उस में भी उपन्यास की ओर अधिक, कहानी की ओर उतनी नहीं। अब अपने मनोभाव को सब से अच्छी तरह शायद यह कह कर व्यक्त कर सकता हूँ कि मैं ने स्वीकार कर लिया है कि शायद कविता ही मेरी सीमा है। इस स्वीकार में यह ज्ञान भी है कि परिस्थितियों से भी और मन से भी मेरा अधिकांश जीवन अकेले में

---

*यह प्रश्नावली श्री भारतभूषण अग्रवाल द्वारा सन् १९६७ में लिखित उत्तरों के लिए दी गयी थी। उन दिनों लेखक 'दिनमान' का सम्पादक था। युद्ध-सम्बंधी प्रश्न की पृष्ठिका में तत्कालीन भारत-पाक संघर्ष भी था।

लेखनेतर कार्य के विषय में एक प्रश्न था जो सन्दर्भच्युत मान कर छोड़ दिया गया है।

बीता है। अकेले में कविता फिर भी हो सकती है लेकिन उपन्यास के लिए ऐसा जीवन नाकाफ़ी है। या यों कह लीजिए कि वैसा रहने वाले के लिए एक ख़ास ढंग के उपन्यास लिखना ही सम्भव है—सम्भव यानी सच्चाई के साथ, नहीं तो अगर लेखन को व्यवसाय ही माना जाये तो कोई भी किसी भी विधा में कुशलता प्राप्त कर सकता है। मैं समझता हूँ कि मुझे आजीविका के लिए नाटक लिखना पड़े—या कि विज्ञापन एजेंसी के लिए साहित्यगन्धी विज्ञापन सामग्री—तो वैसा काम भी मैं अच्छा-ख़ासा कर सकता हूँ। करना चाहूँगा नहीं; और आशा करता हूँ कि परिस्थितियाँ उस के लिए बाध्य नहीं करेंगी—यह दूसरी बात है।

आप से जब सब से पहले भेंट हुई थी, सन् '३७ में, तब भी आप एक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक थे, आज भी एक साप्ताहिक के सम्पादक हैं। क्या सम्पादन कार्य आप के रचना-कार्य में बाधक नहीं है? क्या सहायक भी है?

तब मैं सम्पादक नहीं, केवल प्रेत सम्पादक था। काम अब भी भूत की तरह करता हूँ लेकिन उत्तरदायित्व दूसरे ढंग का हो गया है। यह काम कहाँ तक रचना-कार्य में बाधक है, इस का ठीक-ठीक जवाब नहीं जानता। किसी भी प्रकार का अतिश्रम या थकान रचना-कार्य में बाधक होता होगा; इस अर्थ में तो यह काम भी बाधक होगा ही। बाक़ी सिद्धान्ततः तो मैं यह नहीं मानता कि कोई भी काम अपने स्वभाव के कारण रचना-कार्य में बाधक होता है; बल्कि सिद्धान्ततः इस से ठीक उलटा ही मानता हूँ...ज़ो कुछ न कुछ इतर परिश्रम नहीं करता उस की रचनाशीलता भी धीरे-धीरे क्षीण या विकृत हो जाती होगी। इतर परिश्रम को मैं यथार्थ से बँधे रहने में सहायक ही मानता हूँ।

फिर यह भी है कि सर्जन का काम अविराम नहीं होता। उस में

अन्तराल होता है या होना चाहिए। मैं तो समझता हूँ कि साल में तीन-चार महीने साहित्य-रचना में लग जायें तो बाक़ी समय न भी लिखें तो कोई बुराई नहीं है—बल्कि उससे लाभ ही है। उपजाऊ ज़मीन को भी बीच-बीच में परती छोड़ देने से उस की उर्वरा-शक्ति बढ़ती ही है।

क्या आप लेखक का जीविका के लिए केवल लेखन पर निर्भर रहना अनुचित समझते हैं?

उस निर्भरता को अनुचित कैसे कहूँ जब कि जानता हूँ कि कभी उस की लाचारी भी हो सकती है? लेकिन आप के सवाल को उलटा कर उस का जवाब दे सकता हूँ। लेखक को लेखन जीवी होने की लाचारी न हो तो इसे उस का सौभाग्य समझना चाहिए। लिखना जब जीने की शर्त बन जाता है तब आदमी की समझौता करने से इन्कार करने की शक्ति सीमित हो जाती है। रचना को आज़ाद रखने के लिए अधिक अनुकूल परिस्थिति यही है कि रोज़ी का आधार कुछ दूसरा हो।

युद्ध के सम्बन्ध में साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? आप तो पिछले महायुद्ध में सेना में रह चुके हैं। क्या उस से आप के रचनाशील व्यक्तित्व को कोई सीधी प्रेरणा मिली थी? भारत-पाकिस्तान युद्ध से भी प्रेरणा मिली?

युद्ध बुरी चीज़ है। किसी भी काल में बुरी थी। आधुनिक युग में और भी बुरी है क्यों कि आधुनिक युद्ध में यह जानना कठिनतर हो जाता है कि युद्ध कौन-से मूल्यों की रक्षा के लिए किया जा रहा है। मध्यकाल तक मूल्य स्पष्ट होते थे और उस समय तक की शौर्य-परम्परा युद्ध की परम्परा उतनी नहीं जितनी मूल्य-रक्षा की परम्परा थी—मर्यादा थी। आज तरह-तरह के यन्त्रों के साथ लड़ने वाला

व्यक्ति एक उपकरण मात्र बन जाता है। फिर भी युद्ध को बुरा मानते हुए भी मैं समझता हूँ कि आज भी ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जब कि युद्ध करणीय हो जाये—राष्ट्र के लिए भी, समाज के लिए भी और व्यक्ति के लिए भी। फिर व्यक्ति के लिए प्रश्न यह रह जाता है कि अगर कोई काम **आवश्यक** होने के नाते **उचित** है तो उस के प्रति उस व्यक्ति का रवैया क्या हो ? क्या उस का ऐसा कहना उचित हो सकता है कि 'काम तो किसी को करना चाहिए; लेकिन गन्दा काम है, इस लिए कोई दूसरा करे—मैं तब तक ज़रा कविता लिख लूँ ?' इस प्रश्न का उत्तर पिछले महायुद्ध के समय मुझे सेना में ले गया था। भारत-पाक संघर्ष भी अगर युद्ध का रूप ले ले—मैं अब भी आशा करता हूं कि वैसा नहीं होगा—तो फिर शरीर से समर्थ हर लेखक को इस प्रश्न का सामना करना पड़ेगा। संकट की स्थिति में नागरिकता का कर्त्तव्य पहले है कविता का कर्त्तव्य उस के बाद। देश-रक्षा नागरिक कर्त्तव्य है। कवि को बन्दूक़ चलाने से क़लम का दर्जा आत्यन्तिक रूप से ऊँचा है, बल्कि इस लिए कि देश-रक्षा के लिए 'हर नागरिक के द्वारा अपनी शक्ति और प्रतिभा का सब से सार्थक और कारगर उपयोग' का तर्क यह बता सकता है कि अमुक व्यक्ति को बन्दूक़ चलानी चाहिए और अमुक दूसरे व्यक्ति को क़लम या **ज़बान** चला कर उस कार्य में योग देना चाहिए।

रचनाशील व्यक्तित्व को प्रेरणा हर चीज़ से और हर घटना से मिल सकती है। वैसा शील चाहिए। लेकिन प्रेरणा मिलना-भर काफ़ी नहीं है। क्या प्रेरणा मिली, किस काम की प्रेरणा मिली, यह सवाल भी तो पूछना चाहिए। 'सीधी प्रेरणा' तो भाग खड़े होने की भी हो सकती है। वास्तव में 'सीधी प्रेरणा' प्रेरणात्मक होती नहीं। अनुभव के कई स्तरों से गुज़र कर ही बाहर की घटना उस अर्थ में प्रेरणा बनती है जिस का रचना के लिए कोई मूल्य हो। और इसी लिए प्रेरणा का रूप केवल बाहर की घटना से निर्धारित नहीं होता, जिस

अनुभव-यन्त्र पर उस का प्रभाव पड़ता है उस पर—उस के इतिहास, संस्कार और सामर्थ्य पर—भी निर्भर करता है।

इस का एक अर्थ यह भी है कि जिस घटना से जो व्यक्ति जो प्रेरणा पाता है वह स्वयं उस का ठीक-ठीक निरूपण नहीं कर सकता; दूसरा ही यह काम कर सकता है।

दूसरे महायुद्ध से पूर्व के साहित्यिक वातावरण और मूल मान्यताओं की तुलना में आज भिन्नता किस बात में है? क्या आप को लगता है कि वह जमाना अच्छा था?

जब हम ज़माने को अच्छा-बुरा कहते हैं तब वास्तव में अपने समाज की या स्वयं अपनी अच्छाई-बुराई जमाने पर मढ़ देते हैं। ज़माने सभी अच्छे हैं—और सभी बीत जाते है; और ज़माने सभी बुरे हैं—और सभी बीत जाते हैं। दूसरे महायुद्ध से तुरत पहले का समय प्रगतिवाद के शोर-शराबे का समय था। इस समय उग्र राष्ट्रीयतावाद की हवा है। जहाँ तक उग्रता का सवाल है, दोनों की उग्रता संकीर्णता का रूप ले लेती थी और है। एक मनोरंजक अन्तर यह है कि उस समय बहुत-से लोग जो दूर के युद्ध को ले कर 'युद्ध-धर्म' और 'एंगेजमेंट' और 'कमिटमेंट' की दुहाई दे रहे थे, आज अपने सीमान्तों की रक्षा के सन्दर्भ में कला की असम्पृक्तता की बात करते हैं! दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो तब साहित्य के शाश्वत पक्ष पर बल दे रहे थे और आज प्रवाह में ऐसे बह गये हैं मानों उन के लिए स्थिर-चित्त हो कर सोचना ही असम्भव हो गया है! मुझे लगता है कि जो बात तब भी सोचने की थी वह अब भी सोचने की है; वह यह कि साहित्यकार या कलाकार के रचयिता रूप को स्वतन्त्र रखने के लिए यह आवश्यक है कि उस का सामाजिक कर्त्तव्य भी सही-सही समझा जाये। साहित्यकार क्यों कि नागरिक है इस लिए साहित्य भी सम्पूर्ण रूप से समाज—राष्ट्र—अथवा शासन-नियन्त्रित हो, यह दलील भी

उतनी ही ग़लत है जितनी यह दलील कि साहित्य क्योंकि स्वतन्त्र है इस लिए साहित्यकार समाज-निरपेक्ष है या युग-बन्धन से मुक्त है।

बीस साल पहले से अभिप्राय शायद स्वाधीनता-प्राप्ति का है। मेरी समझ में जहाँ तक लेखक की मानसिक स्थिति की बात है, स्वाधीनता-प्राप्ति उसे सन् १९३१-३७ में हो गयी थी। साहित्य में भी इस बात का प्रतिबिम्ब है। इस समय का (और इस समय से) साहित्य, पहले के साहित्य से भिन्न हो गया है। सन् १९४७ के बाद भी और परिवर्तन आते रहे हैं लेकिन इतनी तेज़ी से नहीं और आज़ादी की घटना के सीधे प्रभाव से भी नहीं बल्कि आज़ादी के बाद होने वाले परिवर्तनों के क्रमिक प्रभाव से। यों साहित्यिक वातावरण में एक परिवर्तन और भी उल्लेख्य हो सकता है—वह है आज की हवा में मोह-भंग का चिड़चिड़ापन। उस समय हम में संघर्ष-शीलता अधिक थी और उस के साथ भविष्यत् उपलब्धि का विश्वास। आज जब वह भविष्य वर्तमान बन गया है लेकिन वे कल्पित उपलब्धियाँ नहीं हुईं, तब नया साहित्यिक क्षुब्ध है। इस क्षोभ को मैं उचित तो नहीं मानता हूँ क्यों कि आज का साहित्यिक अवश्य ही अपने सामने नये लक्ष्य भी रख सकता है और उन के लिए नया संघर्ष कर सकता है। आप चाहें तो कह लें कि नये मोह पाल सकता है। फिर भी स्थिति चिड़चिड़ेपन की है यद्यपि साहित्यकार की परिस्थिति कुछ अर्थों में पहले से अच्छी भी है।

अपने संघर्ष को याद करते हुए आप आज की स्थितियों को लेखक के लिए ज्यादा आसान समझते हैं या ज्यादा मुश्किल ?

कौन-सा संघर्ष ? एक तो पेशेवर लेखक का लेखन-व्यवसाय की परिस्थितियों से संघर्ष है। अगर उस की बात है, तो कहें कि आज की स्थिति मेरी समझ में कुछ मामलों में ज्यादा आसान हो गयी है और कुछ में ज्यादा मुश्किल। साहित्यकार का मोह-भंग हुआ है तो जन-

साधारण का भी हुआ है—साहित्यकार के बारे में। अब वह भी साहित्यकार को समाज में उच्चतर स्थान नहीं देता बल्कि लेखन-व्यवसायी मान कर इसी दृष्टि से उस का स्थान निर्धारित करता है कि वह व्यवसाय में किस हद तक सफल हुआ है। बहुत दूर तक लेखक ने ही चाहा था कि ऐसा हो—क्यों कि उसने चाहा था कि उसे व्याव-सायिक और आर्थिक सफलता मिले, कोरी प्रतिष्ठा नहीं। लेखन के व्यवसाय से रोज़ी कमा लेना पहले से कुछ कम कठिन है। लेकिन साहित्य-रचना अवश्य ही पहले से अधिक कठिन हो गयी होगी क्यों कि उस के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता बनाये रखना अधिक कठिन हो गया है। यह नहीं कि असम्भव हो गया है; केवल इतना ही कि अधिक दृढ़ता और संघर्ष माँगता है।

पाश्चात्य साहित्य की उपलब्धियों को देखते हुए आप क्या सोचते हैं, हमारे साहित्य में किस बात की त्रुटि पायी जाती है?

पहली त्रुटि तो मैं यही देखता हूँ कि हमारे आलोचकों में अपने साहित्य की कमियों को पश्चिमी साहित्य की सम्पन्नता के सन्दर्भ में देखना ज़रूरी जान पड़ता है। पश्चिम का साहित्य पश्चिम का है, उस की उपलब्धियाँ हैं तो त्रुटियाँ और समस्याएँ भी हैं जिन सब का निरूपण हम पश्चिम के सन्दर्भ में ही कर सकते हैं। इसी तरह हमारे साहित्य में त्रुटियाँ हैं तो उस की उपलब्धियाँ भी हैं और समस्याएँ भी; और इन का निरूपण और विचार हमारी संस्कृति, परम्परा और इतिहास के सन्दर्भ में ही हो सकता है। दो समान्तर संस्कृतियों से परिचित होना और दोनों को परस्पर प्रतिकृत होने का मौक़ा देना एक बात है; केवल परायी संस्कृति की कसौटी पर केवल अपनी संस्कृति को कसते रहना और उस के दोष निकालते रहना बिल्कुल दूसरी। इस दृष्टि से तो कभी-कभी मुझे लगता है कि हमारे साहित्यों

की सब से बड़ी कमजोरी यही है। जिस तरह हम अपनी भाषाओं को अंग्रेज़ी के मानदंड से मापते हुए यह भूल जाते हैं कि छोटी-बड़ी हर भाषा में ऐसा बहुत-कुछ होता है जिस का ठीक-ठीक अनुवाद किसी दूसरी भाषा में नहीं हो सकता क्यों कि किसी भी संस्कृति का पूरा माप किसी भी दूसरी संस्कृति से नहीं हो सकता; उसी तरह हम यह भी भूल जाते हैं कि हम पश्चिम के अनुभव से लाभ तो उठा सकते हैं लेकिन अपने अनुभव की मूल्यवत्ता का फ़ैसला उस के आधार पर नहीं कर सकते। ऐसा पूर्वग्रह अपने-आप ही हमारे पैरों की बेड़ी बन जाता है; उसे हम काट दें तो हमारा साहित्य फ़ौरन सहज भाव से आगे बढ़ने लगता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि आप की कविता में रोमांटिक तत्त्व बहुत प्रबल है, बल्कि आपका लेखन एक प्रकार से छायावादी भावना का ही परिवर्त्ती रूप है। आप क्या इस से सहमत हैं?

मेरे सहमत या असहमत होने से क्या आता-जाता है! आलोचक, जो कहते हैं उस का खंडन-मंडन उन्हीं को करना है। मेरी समझ में **रोमांटिक** और **छायावादी** ये दो शब्द सम्पूर्ण पर्यायवाची नहीं हैं यद्यपि छायावाद पर रोमांटिक साहित्य का प्रभाव काफ़ी रहा। मेरी रचनाओं में रोमांटिक तत्त्व अवश्य होंगे, छायावादी प्रभाव भी होगा ही। मुझे न उन्हें बनाये रखने की चिन्ता है न उन से मुक्त होने की। आप चाहें तो कह सकते हैं कि इसी लिए मैं 'नया' या 'आधुनिक' नहीं—अगर आधुनिक होने के लिए कुछ न होने की सजग चेष्टा अनिवार्य ही है। जैसे मैं बिल्कुल आवश्यक नहीं मानता कि मेरी कविता अकविता ही हो या कहानी अकहानी ही—वह कविता या कहानी ही हो जाये तो मैं लज्जित होने का कोई कारण नहीं देखता।

कहानी या उपन्यास के बारे में आप की रचना-पद्धति

क्या है ? पूरा कथानक पहले सोच लेते हैं या कहानी को अपने-आप बहने देते हैं ? चरित्र से प्रारम्भ करते हैं या घटना से ? या किसी भाव से या विचार से ?

कोई एक पद्धति तो नहीं है। छोटी कहानी तो किसी भी तरह से बन सकती है—चरित्र से आरम्भ कर के या घटना से या भाव से या विचार से, या किसी घटना की प्रतिक्रिया में उदित होने वाली किसी सूझ से। या कि किसी स्थान के इतिहास या वातावरण से। छोटी कहानी को 'अपने-आप बहने देना' तो मेरे ख्याल से सम्भव नहीं है—मैं समझता हूँ कि उसे कोई भी अपने-आप बहने नहीं देता होगा—जो लोग ऐसा दावा करते हैं वे भी नहीं। वास्तव मे कला में अपने-आप बहने देना कुछ होता नहीं है। सिवाय इस के कि कलाकार स्वयं अपने को अपने-आप बहने देता है—और वह तब जब कि वह ऐसा करने से पहले अपने-आप को इतना माँज चुका होता है कि वह 'अपने-आप बहना' अनियन्त्रित बहना नहीं होता।

उपन्यास के बारे में यह बात अंशतः सही हो सकती है। पूरा कथानक पहले सोच लेता हूँ, ऐसा तो नहीं कह सकता; लेकिन कुछ ऐसे बिन्दु ज़रूर निर्धारित कर लेता हूँ जिन से यात्रा-पथ की पहली रेखा या तो अंकित हो जाती है या मुझे भरोसा रहता है कि होती चलेगी। कुछ अंश भी मन ही मन लिख लेता हूँ—बल्कि एक बार नहीं, कई बार दोहरा कर। लिखने तभी बैठता हूँ जब मन आश्वस्त होता है कि लक्ष्य तक पहुंचने का सम्बल मेरे पास है और मार्ग में जा बाधाएँ उठेंगी उन का हल निकलता चलेगा। इस का मतलब यह नहीं है कि पूरा कथानक पहले से सोच लिया गया है। क्यों कि कथानक या घटनाक्रम या चरित्र का विकास इत्यादि सब अपने-आप मे कृति नहीं, कृति के आनुषंगिक होते हैं। रचना-प्रक्रिया में उससे सम्बद्ध सब सवालों का जवाब मिल जाता है; लेकिन सवालों का जवाब रचना-प्रक्रिया नहीं है। रचयिता के सामने जो समस्या या चुनौती होती है, उस का जो

हुआ है और नयी दिशाओं में प्रयोग भी हुए हैं अवश्य; लेकिन इस तरह के बिल्ले अधिकतर कहानी के प्रकार या रूप-कल्पना के भेद के कारण नहीं हैं, केवल इस लिए हैं कि अलग-अलग दल अपना विशिष्ट अस्तित्व बनाये रखना या बना देना चाहते हैं। पर युग से आक्रान्त कहानी-व्यवसाय के लिए यह सब हरकतें लोक-सम्पर्क (पब्लिक रिलेशंज़) का अंग हैं। इस ज़माने में युवतर कहानी लेखक अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए ऐसा नियोजित लोक-सम्पर्क आवश्यक मानते हैं। एक हद तक वह आवश्यक हो भी गया है। लेखक प्रायः यह मान कर चलता है कि जब सब व्यवसायों में यह उपयोगी होता है तो कहानी-प्रकाशन के व्यवसाय में भी क्यों न उपयोगी होगा। ये व्यवसाय के गुर हैं। जरूरी नहीं है कि माल के आत्यन्तिक गुण उन का आधार हों।

क्या आप के कथा लेखन पर आप के कवि-व्यक्तित्व का प्रभाव भी रहता है? दूसरे शब्दों में क्या आप अपने कथा-साहित्य में भी अपनी काव्यानुभूति को ही प्रक्षेपित करते हैं? क्या आप की कुछ कहानियों और कविताओं की मूल भावानुभूति एक ही है?

अनुभूति तो मेरी है और मैं मैं। मेरा प्रयत्न है कि मैं एक ही रहूँ—द्विभाजित व्यक्तित्व का शिकार न बनूँ। इसी लिए अगर ऐसा होता हो कि मेरे काव्य पर कथा-लेखक की छाप दीखती हो या कथा-साहित्य पर कवित्व की, तो उस में अप्रत्याशित तो कुछ नहीं होना चाहिए। लेकिन वास्तव में वैसा होता है या नहीं, यह बताना तो मेरा काम नहीं है। यह तो मुझ को ही कोई बता दे तो सुन लूँगा। यों मुझे भी पूछना चाहिए कि **काव्यानुभूति और कथानुभूति** क्या अनुभूति के अलग-अलग रूप या पहलू या प्रकार या स्तर या मान हैं? यदि आप उन की प्रक्रिया अलग मानते हैं तो उनमें भेद कैसे करते हैं?

इलाहाबाद में 'प्रतीक' की सहकारी तथा सहजीवन की योजना अब इतने समय के परिप्रेक्ष्य में कैसी लगती है? प्रयास, क्या कहा जा सकता है कि असफल रहा? वैसा प्रयास क्या आज भी उपयोगी होता?

यह सवाल **आप** पूछेंगे, ऐसा नहीं समझता था। क्यों कि मेरी समझ में इस का उत्तर आप जानते हैं। आप यह भी जानते हैं कि इस का पूरा उत्तर मैं सार्वजनिक रूप से अभी नहीं दूँगा क्यों कि मैं ख़ाह-मख़ाह लोगों का दिल नहीं दुखाना चाहता। फिर भी आप पूछते हैं तो उस से बचते हुए जितना कह सकता हूँ कहता हूँ। सहकार में मेरा बराबर विश्वास रहा है और अब भी है। सहकार के लिए मैं यह बिल्कुल आवश्यक नहीं मानता रहा कि सब सहकारियों की हर मामले में एक-सी धारणा या रुचि हो। **मुझ से प्यार तो मेरे कुत्ते से भी प्यार** वाली प्रवृत्ति को मैं सभ्य नागरिक जीवन का अभिशाप मानता हूँ। हिन्दी में यह रोग काफ़ी प्रचलित है। और शायद कलाकार नाम का प्राणी सभी जगह इस से विशेष रूप से पीड़ित होता है—तो उस हद तक वह सभ्य नागरिक कम होता है—चाहे सभ्य कम, चाहे नागरिक कम, चाहे दोनों ही कम!

इस तरह के सभ्य जीवन को मैं सभ्य नागरिक परिपाटी की कसौटी भी मानता हूँ और शिक्षा-भूमि भी। यानी अब भी समझता हूँ कि वैसा प्रयोग कम से कम बीच-बीच में करते रहना चाहिए—ठीक उसी तरह जिस तरह बर्मी बौद्ध बीच-बीच में संन्यासी जीवन व्यतीत करते रहते हैं।

इलाहाबाद का **प्रतीक** का प्रयोग सफल भी हुआ और असफल भी हुआ। पूर्वग्रह, दुर्भावना या योजना लेकर आने वालों की बात तो छोड़ दीजिए, असफलता का एक कारण यह भी था कि उसमें कुछ लोग ऐसे भी शामिल थे जिन्हें उस से तुरन्त पहले **सहकारी जीवन** के नाम

पर केवल **आज्ञाकारी जीवन** का अनुभव हुआ था। सहज आत्मतन्त्र में रहना उन्हें नहीं आता था—वे या तो बताये हुए नियम पर चल या चला सकते थे, या फिर बिल्कुल स्वैराचारी हो कर रह सकते थे। और जिस तरह के सहकारी सहजीवन की योजना हमारी थी उस में इन दोनों प्रकार के अतिवाद के लिए स्थान नहीं था। उस में कभी हो भी नहीं सकता। वैसा जीवन तभी संभव है जब उस में भाग लेने वाले सभी लोग इतने स्वस्थ-संतुलित और **स्वाधीनता के अभ्यस्त** हों कि नियम अथवा संयम का स्वेच्छा से वरण कर सकें। किसी के बताए हुए नियम से नहीं, प्रातिभ ज्ञान से दूसरे का सम्मान करते हुए ऐसे ढंग से रह सकें कि सभी का समान हित और सुख उस से सिद्ध हो।

ऐसे लोग आज भी मिल जायें तो उन के साथ उस ढंग से रहना मुझे अच्छा लगेगा। वैसे लोग न मिलें तो वैसा प्रयोग मैं नहीं करूंगा; फिर भी विशिष्ट और स्पष्टतया निर्धारित लक्ष्यों के लिए सीमित ढंग का सहकारी प्रयत्न करना चाहूंगा बल्कि कह सकता हूं कि करता रहता हूं। मैं तथाकतित व्यक्तिवादी ने स्वेच्छापूर्ण सहयोग से जितने काम किये हैं आप जैसे घोषित जनवादियों ने नहीं किये होंगे।

स्वाधीन भारत में लेखक

देश को स्वाधीन हुए बीस वर्ष हो गये हैं। इंडिपेंडेंस के बाद से लेखक को जो फ्रीडम मिली है उसका क्या प्रभाव हुआ है?

सब से पहले तो फ्रीडम और इंडिपेंडेंस में भेद करना आवश्यक है: कलाकार और विशेषतया लेखक के लिए इस अन्तर का बहुत महत्त्व है। फ्रीडम का सम्बन्ध उस मानसिक वातावरण से है जो कलाकार अथवा लेखक के लिए आवश्यक है। इंडिपेंडेंस एक भौतिक या बाहरी तथ्य है—परिस्थिति का तथ्य है। इस अन्तर को सामने रखते हुए कहा जा सकता है कि लेखक सन् 'चालीस के दशक के अन्तिम दिनों में नहीं, सन् तीस के आस-पास ही स्वाधीन हो गया—वह उस मानसिक वातावरण में साँस लेने लगा जिस का मैं ने उल्लेख किया है। उस काल के साहित्य की तुलना, उदाहरण के लिए, सन् 'बीस के आस-पास की रचनाओं से करें तो बड़ा स्पष्ट अन्तर दीखता

*स्वाधीनता दिवस की एक वर्षगाँठ को निमित्त बना कर ऑल इण्डिया रेडियो ने देश और विदेश में प्रसार के लिए कुछ प्रश्न पूछे थे। उत्तरों का कुछ अंश ही भारतीय कार्यक्रमों में प्रसारित हुए। मूल प्रश्नोत्तर अंग्रेज़ी में था।

है। मुख्य परिवर्तन तभी हुआ, इस लिए हम कह सकते हैं कि साहित्य में 'स्वाधीनता युग' 'तीस के उत्तर भाग से ही आरम्भ हो गया था।

स्वाधीनता युग के साहित्य की दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक अन्तरराष्ट्रीय हुई है या कि भारतीय परम्परा की ओर झुकी है?

कहा जा सकता है कि दोनों प्रवृत्तियाँ उभरी हैं। यह विरोधा-भास जान पड़ता है, किन्तु वास्तव में इस में कोई विरोध नहीं है। क्यों कि एक ओर परम्परा की अत्यधिक चिन्ता से एक प्रत्यभिमुखता आयी है, और भाषावाद के परिणाम में भी दृष्टि की एक संकीर्णता भारतीय साहित्यों में लक्षित होने लगी है, दूसरी ओर अन्तरराष्ट्रीय विचारों का प्रभाव निश्चित रूप से बढ़ा है। आज का भारतीय लेखक विदेशी साहित्यो के प्रति अत्यन्त सजग हैं—केवल अंग्रेजी साहित्य के नहीं, सामान्यतया यूरोपीय साहित्यों के प्रति; और भारतीय लेखक अपनी रचनाओं को केवल अपनी परम्परा के सन्दर्भ में नहीं, दूसरी साहित्य-परम्पराओं के सन्दर्भ में रख कर भी देखना चाहता है। परिणामतः आलोचना के स्वभाव में भी परिवर्तन लक्षित होता है।

उपन्यास के क्षेत्र में तो परम्परा का कोई सवाल नहीं था क्यों कि उपन्यास तो एक नयी और आधुनिक विधा है। उस क्षेत्र में स्वाधीनता युग ने क्या दिया है?

यह एक अतिसरलीकरण हैं कि अतीत में हमारे पास उपन्यास था ही नहीं। बल्कि दावा किया जा सकता है कि उपन्यास मूलतः भारतीय उपज है—कहानी नहीं, जो कि मुख्यतया अमेरिकी प्रतिभा की देन है और वह भी उन्नीसवीं सदी की। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम से नये सम्पर्क के कारण हुआ। इस अर्थ में हम उपन्यास को नयी विधा भी कह

सकते हैं। फिर भी इस के पीछे पूर्व की ओर विशेषतया भारत की एक लम्बी परम्परा रही। भारत में उपन्यास के क्षेत्र में (और कुछ अन्य क्षेत्रों में भी, उदाहरणतया नाटक में) नयी बात यही हुई है कि इस तथ्य को पहचाना गया है और कुछ ऐसी प्राचीनतर विधाओं या रूपों में प्रयोग किये गये है जो यहाँ भी उपेक्षित रह गयी थीं और जिन्हें पश्चिम ने भी नहीं अपनाया था। ये प्रयोग आधुनिक सन्दर्भ में किये गये हैं। एक उदाहरण शृंखलाबद्ध कथा का है। यह विधा पूर्व की विशिष्ट देन है और अन्ततः भारतीय है। **कथासरित्सागर** उस का प्राचीन, शायद सर्वोत्तम, उदाहरण हैं। **हितोपदेश** और **पंचतन्त्र** भी इसी तरह की कहानी से प्रसूत कहानी के उदाहरण हैं। कह सकते हैं कि इस तरह की कहानी की रचना का आधार यही हैं कि पूर्व में और विशेष रूप से भारत में काल की परिकल्पना दूसरी रही है। यह भी कह सकते हैं कि आधुनिक संसार में काल के उस बोध का निर्वाह नहीं हो सकता। लेकिन यह विधा और शैली एक विशिष्ट भारतीय कथा-शैली रही और आधुनिक वस्तु को लेकर इस शैली में प्रयोग हो सकते हैं और हुए हैं। भारतीय काल-प्रत्यय के अनुरूप ही भारतीय समाज का गठन भी है और उस के सर्वांग चित्रण के लिए यह पद्धति विशेष उपयोगी हो सकती है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में कविता का क्या स्थान है? स्वाधीनता के युग में उस में क्या प्रयोग हुए हैं?

अलग-अलग भारतीय साहित्यों के बारे में और समूचे भारतीय साहित्य के बारे में अलग-अलग बातें कही जा सकती हैं क्यों कि विभिन्न साहित्यों में परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं। साधारणतया यह कहना सही होगा कि भारतीय साहित्यों में यह विधा सब से विकसित रही हैं। स्वाधीनता के युग में भी ऐसा होना स्वाभाविक हैं क्यों कि सदा से यही स्थिति रही है।

सन् 'तीस के दशक से प्रयोग भी विशेष रूप से हुए। इन में से कुछ का आधार अवश्य ही पश्चिम के साहित्य का—केवल अंग्रेजी नहीं, यूरोपीय काव्य-साहित्य का—हमारा बढता हुआ ज्ञान था। स्वरों के संगीत की ओर भी इस काल में विशेष ध्यान गया। इस से पहले के सौ वर्षों में काव्य का यह पक्ष विशेष उल्लेखनीय नहीं था। इधर जान पड़ता है कि एक प्रवृत्ति क्लासिकल की ओर लौटने की भी है—एक प्रकार का नवक्लासिकवाद'।

औद्योगिक विकास और नये माध्यमों की दृष्टि से बहुत-सी नयी सम्भावनाएँ लेखक के सामने आयी हैं। उन का परिणाम शुभ हुआ है या अशुभ? क्या भारतीय लेखक व्यवसायी होता जा रहा है?

जो स्थिति है उसे आप अपनी प्रवृत्ति के अनुसार शुभ या अशुभ कोई भी मान सकते हैं। इतना है कि विकास अभी उस दर्जे तक नहीं पहुँचा जहाँ भारतीय व्यावसायिक साहित्य हो जाये।

नये माध्यम—सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन—सिद्धान्त रूप में बहुत-से नये अवसर प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में उन का प्रभाव उतना नहीं हुआ है जितना हो सकता। सिनेमा बहुत थोडे-से लेखकों को अवसर देता है और नये माध्यमों में सब से अधिक व्यवसायी माध्यम भी वही है। इस व्यावसायिकता के प्रभाव से कई लेखक इस से विमुख भी होते हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं कि अच्छे लेखक पहले सिनेमा की ओर आकृष्ट हुए और फिर अपनी कहानी की जो गति हुई उसे देख कर उदासीन हो गये।

रेडियो और टेलीविजन का प्रभाव बहुत सीमित इस लिए है कि इन पर सरकार का एकाधिकार है और इस लिए भी कि उन से पारिश्रमिक बहुत ही कम मिलता है। वह इतना नहीं है कि लेखक को आकृष्ट कर सके। प्रसारण के लिए शर्तनामे में जो शर्तें होती हैं वे

भी ऐसी नहीं हैं कि लेखक की रुचि उधर हो। इस लिए अभी तक मुख्य प्रभाव पत्र-पत्रिकाओं का ही है और लेखक को सामने आने के जो अवसर मिलते हैं वे भी उन्हीं के द्वारा। इस क्षेत्र में आजादी के युग में विकास हुआ है। अब पहले की अपेक्षा अधिक लेखकों के लिए यह सम्भव है कि पत्र-पत्रिकाओं से होने वाली आमदनी से गुज़ारा कर ले जो कि पच्चीस वर्ष पहले सम्भव नहीं था।

तो क्या आप की राय में लेखक को पब्लिक सेक्टर से कम प्रोत्साहन मिला है और प्राइवेट सेक्टर से अधिक ?

प्रोत्साहन की बात छोड़िए। उस में देने वाले की नीयत या संकल्प का भी प्रश्न उठता है। अगर प्रश्न इतना ही है कि लेखक को कहाँ से कुछ मिलने की सम्भावना अधिक रही है और कहाँ से वह अधिक प्राप्त करता रह सका है, तो मैं समझता हूँ कि यह कहना सही होगा कि यह सम्भावना प्राइवेट सेक्टर से ही अधिक रही है। प्रोत्साहन का मामला यों भी ज़रा नाजुक है। मेरी समझ में तो लेखक के लिए सब से अधिक प्रोत्साहन इसी में है कि उसे अपने पर छोड़ दिया जाये। सरकार के मामले में तो यह बात खास तौर से सही है। प्रोत्साहन बड़ी असानी से हस्तक्षेप बन जा सकता है, खास कर एक कल्पनाविहीन नौकरशाही में—और नौकरशाही कल्पनाशील होती ही कब है ?

स्वाधीनता युग का मुख्य स्वर आशा और उत्साह का रहा या कि मोहभंग और कटुता का ?

जैसा मैं ने कहा, स्वाधीनता का वातावरण सन् 'तीस के दशक में उपलब्ध हो गया था। उस का एक नतीजा—या यों कह लीजिए कि यह भी एक कारण था कि नतीजा यह हुआ कि स्वाधीनता का युग होश में आने का युग हुआ। इस होश में आने को मैं मोहभंग तो

नहीं कहूँगा, लेकिन इतना अवश्य है कि स्वाधीनता की कल्पना में बहुत-से रोमानी तत्त्व थे जिन से छुटकारा पाना और सँभलना अनिवार्य था। इस के अलावा भी जो वास्तविकता और जो तथ्य हमारे सामने आते रहे हैं वे ऐसे हैं कि लेखक को चिन्ता हो। सरकार से लेखक या कलाकार का सम्बन्ध कैसा हो इस का कोई स्पष्ट या अन्तिम उत्तर लेखकों ने अभी नहीं पाया है।

यह भी सच है कि राजनीतिक लोगों में—उन लोगों में जिन्हें अखबारों में साधारणतया नेता कहा जाता है—साहित्यिक या सांस्कृतिक चेतना के गुण का निरन्तर ह्रास हुआ है। आज का राजनीतिक पहले की अपेक्षा कही कम सांस्कृतिक व्यक्ति है; वह आज एक पेशेवर राजनैतिक व्यक्ति ही है; और पेशे से बाहर उसे किसी चीज के लिए अवकाश नहीं है। मैं आशा तो करता हूँ कि भविष्य में इस स्थिति में सुधार होगा, लेकिन आज लेखक की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि समाज के जीवन में जैसा योग वह देना चाहता या चाह सकता उस के मार्ग में बाधाएँ बहुत हैं। उस के विशेष स्थान और धर्म का बोध बहुत कम लोगों को है और उस बोध की कमी लेखक वर्ग में जितनी खलती है उस से कहीं अधिक पाठक वर्ग में है। यह कहने का तात्पर्य किसी को दोष देना या ज़िम्मेदारी का बँटवारा करना नहीं है; दोनों ही दोषी हैं क्यों कि वे अन्तरावलम्बी है।

असल समस्या यह है कि हमारे पास वैसा जाग्रत, सतर्क और क्रियाशील बौद्धिक वर्ग नहीं है जैसे कि हम आशा करते। जो है सो घटिया है और लेखक उस का अंग है। इस लिए लेखक भी दोषी है; उस ने अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं किया है। यह ज़रूर है कि उस का काम और भी कठिन इस लिए हो गया है कि समाज की स्थिति ऐसी रही है।

लेखक—अभियुक्त

लेखकों को—मोटे तौर पर—दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग उन का है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने को अपना 'हीरो' मान कर चलते, जीते और लिखते हैं; दूसरा उन का जो कुछ भी करें, अपनी नजर में अभियुक्त ही बने रहते हैं। मैं कहूँ कि मैं इन में से दूसरे वर्ग का हूँ, तो यह न आत्मश्लाघा है, न मुझ से भिन्न वर्ग के लोगों पर व्यंग्य, यह केवल एक तथ्य की पहचान और स्वीकृति है। न मैं अपना स्वभाव बदल सकता हूँ, न वे दूसरे; वस्तु-स्थिति के साथ हमारे सम्बन्धों में और उन से प्रतिकृत होने वाले अनुभव-यन्त्रों यानी हमारे मानसिक गठन में जो भेद है उसी का यह परिणाम है। मेरे वर्ग के लोग प्रतिकृत होते हैं और फिर अपनी प्रतिक्रिया को भी अपनी-अपनी अनुभव-दक्षता की धार पर रखने का प्रयत्न करते हैं—यानी प्रतिक्रिया और यन्त्र दोनों एक-दूसरे की कसौटी बन जाते हैं।

बात असल में यह है कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ दो अलग-अलग प्रकृतियों को सूचित करती हैं। एक प्रकृति अन्तर्मुखीन होती है इस लिए कभी अपने को 'मान कर' नहीं चल सकती। 'मैं जैसा हूँ वैसा अपने को स्वीकार्य नहीं हूँ और उसे बदलना चाहता हूँ तो पहले उस को सही-सही पहचान लेना चाहिए'—चेतन अथवा अवचेतन रूप से यह

धारणा इस प्रकृति के लोगों को निर्दिष्ट करती है। दूसरी तरफ़ कुछ कलाकार—कलाकार होने के बावजूद—बहिर्मुखीन प्रकृति के होते हैं; वे अपने को मान कर चलते हैं। अव्वल तो वे बहुत जल्दी कुछ बदलना भी नहीं चाहते; दूसरे बदलना भी चाहते हैं तो औरों को ही बदलना चाहते हैं और अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। उन में बहुत-से युग-सम्पृक्त आदि-आदि होने का दावा भी करते हैं, लेकिन मूलत: उन की धारणा यही होती है कि युग और समाज उन से सम्पृक्त हो, यह नहीं कि वे अपने को युग के अनुकूल ढालें।

यह नहीं कि मैं ही अपने को हमेशा हर बात में युग के अनुकूल ढालने को तैयार हूँ या कि उसे सम्भव ही मानता हूँ। मेरी सीमाएँ तो हैं ही, साथ ही युग की भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ हैं जो मेरे निकट अवांछनीय हैं। उन्हें मैं नहीं मानना चाहता और भरसक नहीं मानूँगा; उन के अनुकूल अपने को क्यों ढालूँ, क्यों ढालना चाहूँ? इक बात की सच्चाई को मान कर भी मैं उस से अभिभूत नहीं हो जाता कि जो संस्कृतियाँ अपने को युगानुकूल नहीं ढालतीं वे मर जाती हैं। मर जाना एक तो अनिवार्य है; दूसरे वह कुछ ऐसा आत्यन्तिक रूप से बुरा भी नहीं है; और तीसरे जीवन अत्यन्त वांछनीय और प्रीतिकर और मूल्यवान् हो कर भी सांस्कृतिक मानव-जीवन का चरम मूल्य नहीं है। ऐसी बहुत अधिक चीज़ें नहीं हैं, पर कुछ बातें अवश्य हैं जिन के लिए जीवन को छोड़ा जा सकता है—या कि जीवन के लिए जिन को नहीं छोड़ा जा सकता। अणु-बम के विरोध में बर्ट्रैंड रसेल के शान्तिवादी तर्कों की सब से बड़ी कमज़ोरी मुझे यही मालूम होती रही है कि जब वह कहते हैं कि 'जीवन रहेगा तो सांस्कृतिक मूल्यों की फिर से प्रतिष्ठा करने का मौक़ा भी रहेगा' तब यह भूल जाते हैं कि ऐसा मान लेना ही तो मानवीय सभ्यता की सब से बड़ी उपलब्धि को खो देना है। मानवीयता और क्या है सिवा इस पहचान के कि जीवन ही अन्तिम मूल्य नहीं है—कि जिजीविषा से बड़ा भी कोई मूल्य है और वही सच्चा

मानव मूल्य है क्योंकि मानव का रचा हुआ मूल्य है ?

यह तो अपनी बात हुई—कि अपने तईं मैं अभियुक्त होने का आदी हूँ। कुछ साहित्य-जगत् ने भी मुझ पर ऐसी कृपा रखी है कि मुझे इस का काफ़ी अवसर दिया है कि मुझे अपने स्वभाव के अनुकूल वातावरण मिलता रहे। जो कुछ लिखता रहा हूँ उस को प्रशंसा या मान्यता मिली भी है तो हर नयी पुस्तक के बाद इस रूप में कि 'इस से पहली रचना तो फिर भी ग़नीमत थी, यह नयी रचना तो बिल्कुल असह्य हैं'। किसी हद तक मैं साहित्यिक और पत्रकार समाज का इस के लिए आभारी हूँ क्यों कि इस ने मेरे स्वास्थ्य को बनाये रखने में बड़ी सहायता दी है। मुझे सन्तोष है कि अभी तक आलोचक-समाज की प्रतिक्रिया का यह क्रम बना हुआ है। बल्कि जिस दिन वह समाज मेरी किसी नयी रचना को उस से पहले की रचनाओं से सब तरह श्रेष्ठ बताएगा उस दिन मैं समझूँगा कि चिन्तित होने का यथेष्ट कारण है—कि प्रयोगशीलता समाप्त हो गयी और इस लिए नया कुछ सीखना भी बन्द हो गया क्यों कि साहित्य-रचना सब से पहले नया कुछ सीखना ही है।

लेकिन, जैसा कि मैं ने पहले भी बार-बार कहा है, लेखक की बात का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए; खास कर उस के अपने लेखन के विषय में उस की बात का। इस सिए अगर मेरी बात को सौ फ़ी सदी सच मान लेंगे तो मुझे तकलीफ़ होगी। मैं जब अपने सामने अभियुक्त हूँ तो आप के सामने भी अभियुक्त ही हूँ; मेरा बयान अभियुक्त का बयान है और इस लिए उस को ज्यों का त्यों सच मानना ज़रूरी नहीं है। न वह बयान मुझ से हलफ़िया दिलवाया जा सकता है। उस में सच्चाई से कुछ इधर-उधर आप को मिले तो उसे आप लेखन का 'पोज' मान लें, वहाँ तक तो ठीक—और लेखक के दूसरे अनेक पोज क्षम्य हैं तो अभियुक्त का पोज भी क्यों नहीं एक हो सकता—लेकिन उसे आप झूठ नहीं मान सकते।

दिल्ली षड्यन्त्र केस और उस के बाद शस्त्र क़ानून और विस्फोटक क़ानून के अधीन मुकदमों के बाद मुझे सैशन अदालत से सज़ा हुई थी और उस के बाद हाई कोर्ट ने मुझे बरी कर दिया। इस के बाद एक मित्र के यहाँ भोजन पर उस अंग्रेज़ सैशन जज से भेंट हुई थी जिस ने मुझे दंड दिया था और उसे मेरा परिचय देते हुए बताया गया था कि मैं लेखक हूं, तो उस ने पूछा था, "उपन्यास के ?"

उत्तर में जब मैं ने कहा, हां, तब उस ने मुस्कराकर व्यंग्य किया था, "मैं पहले ही समझ गया था; तुम्हारा सफ़ाई का बयान उपन्यास का अच्छा नमूना था !"

यह स्थिति सर्वथा ठीक है। मेरा सफ़ाई का बयान निरी औपन्यासिक रचना थी; लेकिन इस्तगासा तो बिल्कुल ही झूठा था—और इसी लिए उच्चतर अदालत ने मुझे बरी कर दिया। अब भी ऐसा ही है कि मेरे बयान औपन्यासिक हैं, लेकिन दडनीय मैं नहीं हूँ क्यों कि वाद केवल प्रवाद है। अर्थात् मेरी अभियुक्तता बरक़रार है लेकिन अपराधी मैं नहीं पाया जाऊँगा।

और यह बात मेरी पहली ही रचना से शुरू हो गयी थी। पहली रचना यानी—पहली बड़ी रचना, क्यों कि उस से पहले इक्का-दुक्का कविताएँ तो मैं ने लिखी थीं। यह 'बड़ी रचना' थी एक नाटक जो कि मेरा पहला और अभी तक सब से अन्तिम नाटक था। मैं दूसरे वर्ग का लेखक होता तो इतने आधार पर यह भी कह सकता कि यह मेरा सब से महान् नाटक था क्यों कि अद्वितीय तो रहा ही। लेकिन वर्गबन्ध के कारण उसे अपनी असफलता के रूप में पेश कर रहा हूं। तब मैं दस-ग्यारह वर्ष का था; उसी वर्ष मैंने मंच पर पहला अभिनय देखा था—**सत्य हरिश्चन्द्र** का—और उस के फ़ौरन बाद **भारत-दुर्दशा** और फिर **सूम के घर धूम** तथा द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक नाटक पढ़े भी थे। इसी के साथ-साथ गांधी के नाम से और स्वदेशी आन्दोलन से भी परिचित हुआ था। इन सब का संयुक्त प्रभाव यह हुआ था

कि मै ने स्वाधीनता-सम्बन्धी एक नाटक लिखा था जिस का आरम्भ (सत्य हरिश्चन्द्र की तरह) इन्द्र सभा में होता था और अन्त एक ऐसे अपूर्व लोक में जिसे आप चाहें तो रामराज्य कह लें—राम के अभिषेक के बाद की अयोध्या का सुना हुआ वर्णन निस्सन्देह मेरे मन में बसा रहा होगा।

नाटक का अभिनय तो हो ही नहीं सकता; पर जिस-जिस को पढ कर सुनाया उस-उस से बिल्कुल दिल-तोड़ अवमानना ही मिली। ग्लानि से भर कर मैं नाटक की हस्तलिपि हाथ में लिये हुए घर के पिछले बरामदे में खड़ा था, जहाँ उस समय और कोई नहीं था सिवा हमारी गाय के जिस की उपस्थिति मुझे उस समय नहीं खटक रही थी क्यों कि वह नाटक की श्रोता तो नहीं थी। एकाएक गाय ने मुँह आगे बढ़ा कर मेरे हाथ से काग़ज खींच लिये और बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखते हुए उन्हें खा गयी। उस समय मुझे लगा कि उस गाय की आँखों में भी अभियोग है। अब यह तो गाय ही बता सकती कि वह अभियोग काग़ज़ के बेस्वाद होने का था या कि नाटक के बेमज़ा होने का। और गाय की भाषा मैं तो समझता भी नहीं। एक दूसरे बुजुर्गवार कहानी-लेखक अपनी कहानियों में गाय से बातचीत कर लेते हैं; पर उन से तब तक परिचय नहीं हुआ था। मैं तो मैं, मेरी गाय भी उन से परिचित नहीं हुई थी।

जब हवा निरन्तर अभियोगों के उछाले जाने की सरसराहट से भरी रहती है, तो मैं अपनी ओर से वे अभियोग क्या गिनाऊँ जो मैं अपने ऊपर लगाता रहता हूँ? अगर इतना कहूँ कि मेरे अपने अभि-योग वे अभियोग नहीं होते जो दूसरे मुझ पर लगाते हैं, तो इस का अर्थ यही होगा कि मैं अपने पर ऐसे भी अभियोग लगाता हूँ जिन का पाठकों और आलोचकों को पता नहीं है। निस्सन्देह ऐसा ही है; और क्यों कि ऐसा है इस लिए मैं अपनी अदालत में अपने मुकदमे की सुनवाई और पैरवी अपने तक ही रखना चाहता हूँ। यह मुकद्दमा

बिल्कुल इन कैमेरा है—इस में किसी बाहर के व्यक्ति को आने की अनुमति नहीं है । जज, वादी, प्रतिवादी, वकील, अभियुक्त और दोनों पक्ष के गवाह—बस ये ही व्यक्ति अदालत में आ सकते हैं। और ये सब व्यक्ति स्वयं मैं हूँ क्यों कि मेरी ही तो अदालत है । यह ठीक है कि गवाहों में कुछ मेरे उपन्यास-कहानियों के चरित्र भी होगे; लेकिन वे भी तो जिस रूप में मेरे सामने आ सकते हैं उस रूप में सर्वसाधारण के सामने नहीं आ सकते—अर्थात् उन के बयान भी प्रकाश में नहीं लाये जा सकते । मेरे जीवन की तरह उन के जीवन भी जितने प्रकाश में आ सकते हैं, उतने रचना में ही आ गये हैं । उतने ही पाठक के लिए प्रासंगिक भी हैं । शेखर या चन्द्रमाधव, रेखा या योके, मदनसिंह या मोहसिन, पाठक के सामने जो हैं क्या यह कहा जा सकता है कि मेरे सामने भी ठीक वही हैं ? उन से मेरी बात प्रायः होती रहती है और मैं उन सब का अभियुक्त हूँ क्यों कि वे जैसे बने हैं उन को वैसा बनाने का उत्तरदायी मैं हूँ । लेकिन वे जैसे मेरे पाठक को दीखते हैं, जैसे मुझे दीखते हैं और जैसे वे स्वयं अपनी नज़रों में हैं, क्या तीनों अलग-अलग नहीं हैं ? उन की आपस में बातचीत और कहा-सुनी भी अवश्य हो सकती है । लेकिन ऐसा हो सकता है, यही इस बात का सबूत है कि मेरे ये पात्र कुछ दूसरे हैं और आप के यही पात्र बिल्कुल दूसरे । फिर इन के साथ मेरा मुकद्दमा मैं आप तक कैसे पहुंचा सकता हूँ ?

आप ने कभी वह जेबी शतरंज देखी है जिस के मोहरे चिपके रहते हैं और जिसे जब चाहे समेट कर जेब में रख लिया जा सकता है और जब चाहे फैला लिया जा सकता है ? अकेले में समस्या-शतरंज खेलने वाले लोग ऐसी ही जेबी शतरंज अपने पास रखते हैं। लेखक और उस के चरित्रों का खेल भी ऐसी ही शतरंज है—वह स्वभावतः समस्या-शतरंज है और अनिवार्यतया एकान्त की शतरज है । दूसरे सब उस के लिए बाहरी हैं—उन की उपस्थिति केवल एकाग्रता को विकेन्द्रित करती है और इस तरह समस्या को धुंधला कर देती है ।

और मैं अपना अभियुक्त हूँ। मुझे एकाग्र हो कर मुकद्दमा सुनना है इस लिए क्षमा चाहता हूँ। आप सब तब मेरी रचनाओं के साथ अपना मनोरंजन कीजिए—मेरे रचे हुए सब चरित्र आप की सेवा में उपस्थित हैं।

●